सामाजिक विज्ञान

लोकतांत्रिक राजनीति - 2

कक्षा 10 के लिए राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक

सामाजिक विज्ञान

लोकतांत्रिक राजनीति-2

कक्षा 10 के लिए राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
अप्रैल 2007 वैशाख 1929

पुनर्मुद्रण
जनवरी 2008 पौष 1929
जनवरी 2009 पौष 1930

PD 120T RA

रु. 00.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा ....

ISBN 81-7450-729-9

एन सी ई आर टी के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III इस्टेज
बैंगलूर 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगांव
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग : *पेय्येटी राजाकुमार*
मुख्य उत्पादन अधिकारी : *शिव कुमार*
मुख्य संपादक : *श्वेता उप्पल*
मुख्य व्यापार अधिकारी : *गौतम गांगुली*
सहायक संपादक : *रेखा अग्रवाल*
उत्पादन सहायक : *ओम प्रकाश*

आवरण, सज्जा
पार्थिव शाह और श्रब्णी

चित्र
इरफ़ान

आमुख

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक स्कूल और घर के बीच अंतराल बनाए हुए है। नई राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास है। इस प्रयास में हर विषय को एक मज़बूत दीवार से घेर देने और जानकारी को रटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल-केंद्रित व्यवस्था की दिशा में काफ़ी दूर तक ले जाएँगे।

इस प्रयत्न की सफलता अब इस बात पर निर्भर है कि स्कूलों के प्राचार्य और अध्यापक बच्चों को कल्पनाशील गतिविधियों और सवालों की मदद से सीखने और अपने अनुभव पर विचार करने का कितना अवसर देते हैं। हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आज़ादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गई सूचना-सामग्री से जुड़कर और जूझकर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों व स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तक को परीक्षा का एकमात्र आधार बनाने की प्रवृत्ति है। सर्जना और पहल को विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें।

ये उद्देश्य स्कूल की दैनिक ज़िंदगी और कार्यशैली में काफ़ी फेरबदल की माँग करते हैं। दैनिक समय-सारणी में लचीलापन उतना ही ज़रूरी है जितना वार्षिक कैलेण्डर के अमल में चुस्ती ताकि शिक्षण के लिए नियत दिनों की संख्या हकीकत बन सके। शिक्षण और मूल्यांकन की विधियाँ भी इस बात को तय करेंगी कि यह पाठ्यपुस्तक बच्चों के स्कूली जीवन को मानसिक दबाव तथा बोरियत की जगह खुशी का अनुभव बनाने में कितनी प्रभावी सिद्ध होती है। बोझ की समस्या से निपटने के लिए पाठ्यक्रम निर्माताओं ने विभिन्न चरणों में ज्ञान का पुनर्निर्धारण करते समय बच्चों के मनोविज्ञान एवं अध्यापन के लिए उपलब्ध समय का ध्यान रखने की पहले से अधिक सचेत कोशिश की है। इस कोशिश को और गहराने के यत्न में यह पाठ्यपुस्तक सोच-विचार और विस्मय, छोटे समूहों में विचार-विमर्श और ऐसी गतिविधियों को प्राथमिकता देती है जिन्हें करने के लिए व्यावहारिक अनुभवों की आवश्यकता होती है।

एन.सी.ई.आर.टी. इस पुस्तक की रचना के लिए बनाई गई पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के परिश्रम के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है। परिषद् सामाजिक विज्ञान सलाहकार समूह के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर हरि वासुदेवन और राजनीति विज्ञान पाठ्यपुस्तक समिति के मुख्य सलाहकार प्रोफ़ेसर सुहास पळशीकर, प्रोफ़ेसर योगेंद्र यादव तथा सलाहकार प्रोफ़ेसर के.सी. सूरी का विशेष तौर पर आभारी है। इस पाठ्यपुस्तक के निर्माण में कई शिक्षकों ने योगदान दिया; इस योगदान को संभव बनाने के लिए हम उनके प्राचार्यों के आभारी हैं। हम उन सभी संस्थाओं और संगठनों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्री और सहयोगियों की मदद लेने में

हमें उदारतापूर्वक सहयोग दिया। हम माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रोफ़ेसर मृणाल मीरी एवं प्रोफ़ेसर जी.पी. देशपांडे की अध्यक्षता में गठित निगरानी समिति (मॉनिटरिंग कमेटी) के सदस्यों को अपना मूल्यवान समय और सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हैं। व्यवस्थागत सुधारों और अपने प्रकाशनों में निरंतर निखार लाने के प्रति समर्पित एन.सी.ई.आर.टी. टिप्पणियों व सुझावों का स्वागत करेगी जिनसे भावी संशोधनों में मदद ली जा सके।

निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नयी दिल्ली
20 नवंबर 2006

आपके लिए एक चिट्ठी

प्रिय छात्र, शिक्षक और अभिभावक

राजनीति विज्ञान की एक पाठ्यपुस्तक कक्षा 9 के लिए थी और यह पाठ्यपुस्तक 10वीं कक्षा के लिए है। दोनों साथ मिलकर एक समग्र पाठ्यपुस्तक का निर्माण करते हैं। इसी कारण हमने पहली पाठ्यपुस्तक को लोकतांत्रिक राजनीति-1 और दूसरी को लोकतांत्रिक राजनीति-2 कहा है। पिछले साल यानी 9वीं की पाठ्यपुस्तक का जिस पड़ाव पर समापन हुआ था उसी पड़ाव से इस पाठ्यपुस्तक की शुरुआत होती है। पिछले साल लोकतंत्र की यात्रा में आपकी जान-पहचान कुछ बुनियादी अवधारणाओं, संस्थाओं और लोकतंत्र के नियम-कायदों से हुई थी। इस साल कायदों की जगह प्रक्रिया पर ध्यान केंद्रित किया गया है।

इस साल ज़ोर चूँकि प्रक्रिया पर है इसलिए इस किताब में आप राजनीति से कहीं ज़्यादा खुलकर रू-ब-रू होंगे। एक चिंतनशील प्राणी के रूप में मनुष्य संग-साथ रहने के तरीके को कैसे बदलता और तय करता है- राजनीति इसी के बारे में बताती है। इसमें विचार और आदर्श भी आते हैं और सहयोग-समन्वय भी। इसी दायरे में संघर्ष और प्रतिस्पर्धा तथा व्यक्तिगत और सामूहिक हित भी शामिल हैं। इसी कारण लोकतांत्रिक राजनीति में ज़्यादातर सत्ता की साझेदारी के सरोकार ही प्रमुख होते हैं।

इस किताब के आरंभिक छह अध्यायों की विषयवस्तु इसी पर केंद्रित है। इन अध्यायों में हम सत्ता को आकार देने और उसमें साझा करने के विभिन्न रूपों की खोज-बीन करेंगे। अध्याय-1 और अध्याय-2 आपस में जुड़े हुए हैं। इनमें सत्ता की साझेदारी की धारणा का परिचय दिया गया है और इस बात का विस्तार करते हुए उसे सरकार के विभिन्न स्तरों पर होने वाली सत्ता की साझेदारी के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। इसी तरह अध्याय-3 और अध्याय-4 आपस में संबद्ध हैं। इनमें विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच सत्ता की साझेदारी और एक-दूसरे की समाई के बारे में लिखा गया है। अगले दो अध्याय भी एक इकाई की तरह हैं। ये अध्याय बताते हैं कि विभिन्न राजनीतिक संगठन और आंदोलन किस तरह लोकतंत्र के लिए ज़रूरी हैं। सातवें और आठवें अध्याय में आपका सामना उन बड़े सवालों से होगा जिनके साथ हमने पिछले साल इस यात्रा की शुरुआत की थी। सातवें अध्याय में लोकतंत्र के परिणामों का ज़िक्र है। इस अध्याय में चर्चा इस बात की चलाई गई है कि लोकतंत्र ने क्या-क्या हासिल किया है और क्या कुछ हासिल करना अभी बाकी है। सातवें अध्याय की चर्चा हमें आठवें अध्याय की ओर ले जाती है। इसमें आज के दौर में लोकतंत्र के सामने मौजूद चुनौतियों और इन चुनौतियों से निपटने के तरीकों का ज़िक्र किया गया है। पिछले साल शुरू की गई लोकतंत्र की यात्रा का इस तरह समापन किया गया है। एक-एक करके जैसे-जैसे हम विभिन्न अध्यायों के पड़ाव से गुज़रते जाते हैं- लोकतंत्र का अर्थ विस्तृत होता जाता है।

यह किताब एक अन्य अर्थ में भी 9वीं कक्षा की पाठ्यपुस्तक की संगति में है। पिछले साल की पाठ्यपुस्तक में शैली और रूप के कुछ प्रयोग किए गए थे। इन प्रयोगों के बारे में आप सबों ने अनेक उत्साहवर्धक प्रतिक्रियाएँ भेजीं। इसी कारण हमने पिछले साल के प्रयोगों को इस साल एक चलन की तरह जारी रखा है। यह किताब अपनी कथाओं, चित्रों, पहेलियों और कार्टूनों के माध्यम से विद्यार्थियों से हेल-मेल करती है। इस बार दृश्य-सामग्री बढ़ा दी गई है और 'प्लस बाक्स' के नाम से एक नयी चीज़ जोड़ी गई है। 'इस किताब का उपयोग ऐसे करें' शीर्षक के अंतर्गत सभी नयी-पुरानी विशेषताओं का ज़िक्र किया गया है। इसे ज़रूर

पढ़ें। सबसे बड़ी बात यह है कि यह पुस्तक आपको सीख या उपदेश देने की कोशिश नहीं करती। यह आपसे बातचीत करना चाहती है। आप भी मानेंगे कि लोकतंत्र के बारे में सोचने का यही लोकतांत्रिक तरीका है।

हम इस साल भी खुशकिस्मत रहे कि देश के कुछ अग्रणी राजनीति विज्ञानियों ने पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति में अपनी भागीदारी पर सहमति जतायी। इस पाठ्यपुस्तक की रचना में प्रोफ़ेसर कृष्ण कुमार और प्रोफ़ेसर हरि वासुदेवन ने जो सहायता की तथा राष्ट्रीय निगरानी समिति ने जो सलाह दिए उसके लिए हम हृदय से आभारी हैं। प्रोफ़ेसर सतीश देशपाण्डे ने कई अध्यायों को पढ़ा और बहुमूल्य टिप्पणी की। हम उनके आभारी हैं। अनुराधा सेन, सुमन लता, मनीष जैन, राधिका मेनन, मालिनी घोष, एलेक्स एम जार्ज और पंकज पुष्कर के रूप में शिक्षकों और शिक्षाविदों की एक टोली ने इस पुस्तक के प्रारूप को पढ़ा और अपने बहुमूल्य सुझाव दिए। हम यहाँ एलेक्स एम.जार्ज और पंकज पुष्कर के अथक प्रयास का विशेष रूप से ज़िक्र करना चाहेंगे जो एक तरह से इस पाठ्यपुस्तक के 'सुपर एडवाइज़र' ही थे और वह यों कि इन दोनों ने इस पुस्तक में छपी सामग्री का सटीक, दिलचस्प और संवादात्मक होना सुनिश्चित किया। पार्थिव शाह और श्रब्णी ने इस किताब को आकर्षक रूप दिया। इरफ़ान खान ने एक बार फिर आपके लिए उन्नी-मुन्नी को नए रंग-रूप में रचा। एआरके ग्राफिक्स के अहमद रज़ा ने सूचनाओं से भरपूर और मुखर आरेख तथा मानचित्र प्रदान किए। हम लोग 'लोकनीति' तथा विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के भी कृतज्ञ हैं। सीएसडीएस तथा 'लोकनीति' ने पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति को घर जैसा माहौल दिया। इसने पिछले दो सालों के दौरान अपनी जगह और संसाधन मुक्तभाव से इस काम के लिए प्रदान किए। इस पुस्तक की मूल सामग्री अंग्रेज़ी में थी। हिंदी संस्करण को तैयार करते समय हमारी मंशा थी कि पुस्तक अनूदित होकर मूल का ही मजा दे। इस बात को ध्यान में रखकर पुस्तक का प्रारंभिक अनुवाद अरविंद मोहन ने किया। भाषा को ज़्यादा से ज़्यादा बहावदार बनाने और मूल सामग्री से पंक्ति दर पंक्ति मिलाने का श्रमसाध्य कार्य चंदन श्रीवास्तव ने किया।

इस अकादमिक वर्ष के अंत में आप बोर्ड की परीक्षा देंगे। इस परीक्षा के लिए हम सबकी शुभकामनाएँ स्वीकार करें। आमतौर पर लोग-बाग राजनीति विज्ञान को 'बोरिंग' और राजनीति को घटिया चीज़ मानते हैं। हम उम्मीद करते हैं कि इन दो किताबों की लोकतंत्र की यह सैर आपके लिए मददगार साबित होगी और अब आप ऐसी प्रतिक्रियाओं से बखूबी निपट लेंगे। आशा है कि आप आगे के लिए राजनीति विज्ञान को एक विषय के रूप में चुनकर अथवा एक ज़िम्मेदार नागरिक के रूप में आचरण करके लोकतांत्रिक राजनीति की आलोचनात्मक और संतुलित समझ बनाने में अपनी रुचि बरकरार रखेंगे।

के सी सूरी
सलाहकार

योगेन्द्र यादव
सुहास पळशीकर
मुख्य सलाहकार

इस किताब का उपयोग कैसे करें...

इस किताब में अनेक विशेषताएँ ऐसी मिलेंगी जिनसे आप पहले से परिचित हैं। इन विशेषताओं से पहली दफे आपकी जान-पहचान 9वीं के राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक में हुई थी। इस साल की किताब में कुछ नयी चीज़ें और जोड़ी गई हैं और निश्चित ही आप उनके बारे में जानना चाहेंगे।

हर अध्याय की शुरुआत में 'परिचय' दिया गया है। इसको पढ़ने से आपको पता चल जाएगा कि अध्याय का उद्देश्य क्या है और उसमें किन बातों की चर्चा की गई है। अच्छा होगा कि आप 'परिचय' को दो दफे पढ़ें यानी एक बार अध्याय को शुरू करने से पहले और एक बार उसको खत्म कर लेने के बाद।

खंड और उपखंडों के शीर्षक: प्रत्येक अध्याय खंडों और उपखंडों में विभाजित है। खंड का शीर्षक पृष्ठ पर दोनों कॉलमों के ऊपर विस्तृत करके दिया गया है। यह आपके लिए एक संकेत है कि अब अध्याय के एक बड़े हिस्से की शुरुआत हो रही है। इसमें पाठ्यक्रम में निर्धारित किसी विशेष विषय-वस्तु का ज़िक्र आपको मिल जाएगा। उपखंडों के शीर्षक पृष्ठ के एक कॉलम के ऊपर दिए गए हैं। आपके लिए यहाँ संकेत यह है कि किसी खंड के भीतर समाहित अनेक बिंदुओं में एक बिंदु पर उस जगह से सोच-विचार आरंभ किया जा रहा है।

आरेख, कोलॉज, फोटोग्राफ्स और पोस्टरों की इस किताब में भरमार है। 9वीं कक्षा के राजनीति विज्ञान की पुस्तक में इनकी संख्या इतनी नहीं थी। **राजनीतिक आशयों** से भरे और अनेक मसलों पर केंद्रित कार्टून इस किताब में आपको मिलेंगे। इन तस्वीरों से आपकी आँखों को थोड़ा सकून महसूस होगा और थोड़ा मज़ा भी आयेगा। बहरहाल, ऐसा न हो कि आप इनको देखें और फिर पन्ना पलट दें। तस्वीरों को देने का मकसद यही है कि आप इन तस्वीरों के छुपे अर्थ को खोलने और जानने की कोशिश करेंगे। बहुधा, राजनीति शब्दों के सहारे नहीं तस्वीरों के सहारे भी की जाती है। तस्वीरों के साथ 'कैप्शन' लगाए गए हैं और कुछ सवाल पूछे गए हैं। इससे आपको किसी तस्वीर के अर्थ को खोजने-जानने में मदद मिलेगी।

मुन्नी-उन्नी एक बार फिर आपके साथ हैं। आपकी ही तरह वे भी थोड़े और समझदार हो गए हैं। 9वीं की तरह का कच्चापन उनमें नहीं रहा। वे भी बार-बार अपना चेहरा दिखाएँगे और कुछ ऐसे सवाल पूछेंगे जो शायद आपके भी सवाल हैं। क्या ही बेहतर हो कि अध्याय को पढ़ते वक्त थोड़ा ठहर जाएँ और उन्नी-मुन्नी के सवालों का भी सामना करें। अपने शिक्षक अथवा माता-पिता से ठीक ऐसे ही सवाल आप भी पूछें और इसमें तनिक भी संकोच न करें।

'प्लस-बॉक्स' में पूरक सूचनाएँ दी गई हैं जो अध्याय की विषय-वस्तु से संबंधित हैं। किसी-किसी 'प्लस-बॉक्स' में आपको कथा भी मिल जाएगी। कथा उकसायेगी कि आप अपने देश और समाज के राजनीतिक-सामाजिक जीवन की दुविधाओं पर सोचें। इन कथाओं को ज़रूर पढ़ें और चर्चा करें। हाँ, 'प्लस-बॉक्स' में दी गई सूचना अथवा किसी और बात को रटने की ज़रूरत नहीं है। इसमें आपकी नैतिक भावना (अच्छाई-बुराई की समझ) को लक्ष्य करके यदा-कदा सवाल पूछ लिए गए हैं लेकिन आप यह मत मान लें कि इन सवालों के जवाब एकदम सधे-सधाये और तयशुदा ही होंगे। ऐसी कथाओं को देने के पीछे मंशा यह है कि आप कुछ कड़वी बातों पर भी सोचें-विचारें। हर 'प्लस बॉक्स' के साथ एक खास चिह्न + दिया गया है।

दूरदर्शन-देशदर्शन, सुनो रेडियो..., अखबारनामा, बीच बहस में, खोजबीन पर निकलें हम और **खुद करें-खुद सीखें** के अंतर्गत छात्रों को कक्षा अथवा कक्षा से बाहर किए जाने वाले कुछ अभ्यास दिए गए हैं। अगर छात्र अभ्यासों के निष्कर्ष पूरी कक्षा के सामने प्रस्तुत करें और उन्हें इस पर चर्चा चलाने का मौका मिले तो अभ्यास ज़्यादा सार्थक होंगे। अगर ज़रूरी जान पड़े तो आप रेडियो, अखबार या टेलीविज़न में से किसी का भी चुनाव कर सकते हैं। **बात बोले-भेद खोले...** आपको इस किताब के हाशिये पर नज़र आएगा। अध्याय में अगर कोई अपरिचित पद अथवा जुमला आया हो तो उसे इस जगह पर समझाया गया है। ऐसे 'पद' अथवा 'जुमले' को पाठ में रेखांकित किया गया है। याद रहे कि आपको दी गई परिभाषा को रटना नहीं है। बस, समझ लेना है।

क्या समझा-क्या जाना को अमूमन हर खंड के अंत में रखा गया है। किसी खंड में आपने जो बातें सीखीं उन्हें किसी विशेष स्थिति पर लागू करके आप परख सकें – इसी उम्मीद के साथ इसमें सवाल दिए गए हैं। शिक्षक अध्याय के बीच-बीच में आने वाले ऐसे अभ्यास खुद भी तैयार करें और विद्यार्थी की प्रगति जाँचें।

हर अध्याय के अंत में **प्रश्नावली** दी गई है। आप पाएँगे कि हमने कुछ अभ्यास नए ढंग के रखे हैं- खासकर बहुविकल्पी उत्तरों के ढाँचे में। इसमें आपको अपनी तर्कशक्ति का इस्तेमाल करना होगा और दिमाग दौड़ाना पड़ेगा। एक बार आप ऐसे सवालों से जान-पहचान बना लें तो आपको इस चुनौती से जूझने में मज़ा आने लगेगा।

प्रश्नावली

मानचित्र सिर्फ़ भूगोल को समझने में ही नहीं बल्कि इतिहास और राजनीति की समझ के लिए भी बहुत ज़रूरी होते हैं। इसी कारण इस किताब में कुछ जानकारियाँ मानचित्रों के सहारे दी गई हैं। हमारी मंशा यह नहीं है कि आप भी मानचित्र खींचने लगें। आपको बस मानचित्र के सहारे कही जा रही बातों का ध्यान रखना है।

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान सलाहकार समिति

हरि वासुदेवन, *प्रोफ़ेसर,* इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता।

मुख्य सलाहकार

सुहास पळशीकर, *प्रोफ़ेसर,* राजनीति एवं लोक प्रशासन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे।

योगेंद्र यादव, *सीनियर फेलो,* विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली।

सलाहकार

के सी सूरी, *प्रोफ़ेसर,* राजनीति विज्ञान विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

सदस्य

अनुराधा सेन, *प्रिंसिपल,* द सृजन स्कूल, दिल्ली।

एलेक्स एम. जॉर्ज, *स्वतंत्र अनुसंधानकर्त्ता,* इरुवट्टी, ज़िला कन्नूर, केरल।

निवेदिता मेनन, *रीडर,* राजनीति विज्ञान विभाग, कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

पंकज पुष्कर, *सीनियर लेक्चरर,* लोकनीति, विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली।

पीटर आर. डीसूज़ा, *सीनियर फेलो,* विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली।

प्रताप भानु मेहता, अध्यक्ष एवं मुख्य कार्याधिशासी, सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च, नयी दिल्ली।

प्रियवदन पटेल, *प्रोफ़ेसर,* राजनीति विज्ञान विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बडोदरा।

मदन लाल साहनी, *पीजीटी* (राजनीति विज्ञान), राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, आर.के. पुरम, नयी दिल्ली।

मनीष जैन, *अनुसंधानकर्त्ता,* दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

मल्ला वी.एस.वी. प्रसाद, *लेक्चरर,* सा.वि.मा.शि.वि., राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली।

मालिनी घोष, ट्रस्टी, निरंतर, सेंटर फॉर जेंडर एंड एजुकेशन, नयी दिल्ली।

मीनाक्षी टंडन, *पीजीटी* (राजनीति विज्ञान), सरदार पटेल विद्यालय, नयी दिल्ली।

राजीव भार्गव, *सीनियर फेलो,* विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली।

राधिका मेनन, *लेक्चरर,* शिक्षाशास्त्र विभाग, मातासुंदरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

संजीब मुखर्जी, *सीनियर लेक्चरर,* राजनीति विज्ञान विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता।

संज्योत आप्टे, *सीनियर लेक्चरर,* राजनीति विज्ञान विभाग, एस.पी. कॉलेज, पुणे।

सुमन लता, *सीनियर लेक्चरर,* शिक्षाशास्त्र विभाग, गार्गी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

हिंदी अनुवाद

अरविंद मोहन, *वरिष्ठ पत्रकार,* दिल्ली।

चंदन कुमार श्रीवास्तव, *स्वतंत्र अनुसंधानकर्त्ता,* नयी दिल्ली।

पंकज पुष्कर, लोकनीति, विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली।

मेधा, *स्वतंत्र पत्रकार एवं अनुसंधानकर्त्ता,* नयी दिल्ली।

सदस्य समन्वयक

संजय दुबे, *रीडर,* सा.वि.मा.शि.वि., राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली

आभार

इस किताब के लिए मानचित्र, फ़ोटोग्राफ्स, पोस्टर, आरेख और कार्टून कई स्रोतों से जुटाए गए। इस संदर्भ में हम निम्नलिखित संस्थाओं और व्यक्तियों (साथ ही जिन संस्थाओं से वे संबद्ध हैं) का हृदय से आभार व्यक्त करते हैं–

विकीपीडिया का पृष्ठ 2 पर अंकित मानचित्र तथा पृष्ठ 4, 5, 30 और 64 पर अंकित फोटोग्राफ्स के लिए। यह सामग्री जीएनयू लाइसेंस के तहत उपलब्ध है।

एआरके ग्राफिक्स का पृष्ठ 3 और 14 पर अंकित मानचित्र तथा पृष्ठ 45, 50 और 82 पर अंकित आरेख के लिए।

यूएनएफपीए का पृष्ठ 43 पर अंकित मानचित्र के लिए।

'क्रिएटिव कॉमन्स' के अंतर्गत उपलब्ध पृष्ठ 36 पर अंकित फ़ोटोग्राफ के लिए फ्लिकर डॉट कॉम का।

मिन बजराचार्य का पृष्ठ 58 और 59 पर अंकित फ़ोटोग्राफ्स के लिए।

'द हिंदू' का पृष्ठ 72 और 75 पर अंकित फ़ोटोग्राफ्स के लिए।

अनहद/एनसीडीएचआर का पृष्ठ 33 पर 54 और अंकित पोस्टर के लिए और अनहद का पृष्ठ 46 तथा 65 पर अंकित दो पोस्टरों के लिए।

जुबान का, अनेक बेशकीमती पोस्टरों की तलाश में उदारतापूर्वक मदद देने के लिए। इसमें पृष्ठ 40, 41 और 76 पर अंकित पोस्टर शामिल हैं।

ऑक्सफेम जी.बी. का पृष्ठ 44 पर अंकित पोस्टर के लिए; वालंटेयरी हेल्थ एसोसिएशन ऑफ इंडिया का पृष्ठ 48 पर अंकित पोस्टर के लिए और एपीडीपी का पृष्ठ 65 पर अंकित पोस्टर के लिए।

ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस और रज़ा/एआरके का पृष्ठ 78, 92 और 98 पर अंकित आरेख के लिए। इन्हें 'रिपोर्ट ऑन द स्टेट ऑव डेमोक्रेसी इन साऊथ एशिया' से लिया गया है।

टाइम्स ऑव इंडिया के अजीत नीनन का पृष्ठ 21, 49 और 53 पर अंकित कार्टून के लिए; 'द हिंदू' के केशव का पृष्ठ 62 और 86 पर अंकित कार्टून के लिए; डीएनए के मंजुल का पृष्ठ 85 पर अंकित कार्टून के लिए; 'द हिंदू' के सुरेन्द्र का पृष्ठ 45 और 46 पर अंकित कार्टून के लिए; केगल कार्टून का पृष्ठ 6, 8, 32, 37, 68, 79, 83, 84, 91, 93, 98, 103 और 111 पर अंकित कार्टून के लिए; 'टाइम्स ऑव इंडिया' के आर.के. लक्ष्मण का पृष्ठ 73 और 90 पर अंकित कार्टून के लिए और इरफ़ान खान का पृष्ठ 110 पर अंकित कार्टून के लिए।

इरफ़ान खान, यशूदासन और आर.के. लक्ष्मण का आवरण पृष्ठ पर अंकित कार्टून के लिए; जुबान, 'इंसाफ़' (दिल्ली), 'सहमत', स्ट्रीट आर्ट वर्क्स डॉट कॉम, ऑक्सफेम जी.बी., आलोचना (पुणे), चंद्रलेखा (चेन्नई), नारी निरजतन प्रतिरोध मंच (पश्चिम बंगाल), सखी (केरल), इंस्टिट्यूट ऑव डेवलपमेंट कम्युनिकेशन (चंडीगढ़), सहीयार (गुजरात) और शीबा छछी का बैक कवर पर अंकित कार्टून के लिए।

पुस्तक के इस हिंदी संस्करण का डिज़ाइन अभिमन्यु कुमार ने तैयार किया है। हम उनकी श्रमशीलता के लिए आभार प्रकट करते हैं। इस पुस्तक की पाठ-शुद्धि में पूरी लगन से प्रयास करने के लिए एन.सी.ई.आर.टी. के *डीटीपी ऑपरेटर* उत्तम कुमार और *कॉपी एडीटर* अवध किशोर सिंह का हम आभार प्रकट करते हैं। इस पुस्तक के संपादन के सिलसिले में आयोजित एक कार्यशाला में नरेश गोस्वामी, राजेश यादव और सैयद अज़फ़र अहसन ने अपनी विशेषज्ञता से भरपूर मदद की। इसके लिए हमारा आभार!

अपनी राय ज़रूर दें

आपको यह किताब कैसी लगी? इसे पढ़ने या इसका प्रयोग करने का आपका अनुभव कैसा रहा? आपको इसमें क्या-क्या परेशानियाँ हुईं? पुस्तक के अगले संस्करण में आप क्या-क्या बदलाव चाहेंगे? इन सबके बारे में या किसी भी नए सुझाव के संबंध में हमें अवश्य लिखें। आप अध्यापक हों, अभिभावक हों, छात्र हों या सामान्य पाठक – हर कोई सलाह दे सकता है। किताबों में बदलाव की प्रक्रिया में आपके सुझाव अमूल्य हैं। हम हर सुझाव का सम्मान करते हैं।

कृपया हमें इस पते पर लिखें

समन्वयक (राजनीति विज्ञान)
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली-110016
आप हमें इस पते पर ई-मेल भी कर सकते हैं – politics.ncert@gmail.com

विषय सूची

सत्ता की साझेदारी

अध्याय 1

परिचय

इस अध्याय के साथ हम लोकतंत्र की उस यात्रा को आगे बढ़ाएँगे जो पिछले साल शुरू हुई थी। पिछले साल हमने देखा था कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में सारी ताकत किसी एक अंग तक सीमित नहीं होती। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच पूरी समझ के साथ सत्ता को विकेंद्रित कर देना लोकतंत्र के कामकाज के लिए बहुत ज़रूरी है। पहले तीन अध्यायों में हम सत्ता के बँटवारे पर सोच-विचार को आगे बढ़ाएँगे। आइए, हम बेल्जियम और श्रीलंका की दो कथाओं के साथ शुरुआत करते हैं। ये दोनों घटनाएँ बताती हैं कि विभिन्न लोकतांत्रिक शासन पद्धतियाँ सत्ता के बँटवारे की माँग से किस तरह निपटती हैं। इन घटनाओं से यह समझने में कुछ मदद मिलेगी कि आखिर लोकतंत्र में सत्ता के बँटवारे की ज़रूरत क्यों होती है। इससे हम सत्ता के बँटवारे के उन रूपों पर बातचीत कर सकेंगे जिनकी चर्चा अगले दो अध्यायों में की गई है।

बेल्जियम और श्रीलंका

बेल्जियम यूरोप का एक छोटा-सा देश है, क्षेत्रफल में हमारे हरियाणा राज्य से भी छोटा। इसकी सीमाएँ फ्रांस, नीदरलैंड, जर्मनी और लक्समबर्ग से लगती हैं। इसकी आबादी एक करोड़ से थोड़ी अधिक है यानी हरियाणा की आबादी से करीब आधी। इस छोटे से देश के समाज की जातीय बुनावट बहुत जटिल है। देश की कुल आबादी का 59 फ़ीसदी हिस्सा फ्लेमिश इलाके में रहता है और डच बोलता है। शेष 40 फ़ीसदी लोग वेलोनिया क्षेत्र में रहते हैं और फ्रेंच बोलते हैं। शेष एक फ़ीसदी लोग जर्मन बोलते हैं। राजधानी ब्रूसेल्स के 80 फ़ीसदी लोग फ्रेंच बोलते हैं और 20 फ़ीसदी लोग डच भाषा।

मेरे दिमाग में सीधा सा समीकरण यह है कि सत्ता का बँटवारा = सत्ता के टुकड़े करना = देश को कमज़ोर करना। हम इस बात से शुरुआत क्यों कर रहे हैं?

अल्पसंख्यक फ्रेंच-भाषी लोग तुलनात्मक रूप से ज़्यादा समृद्ध और ताकतवर रहे हैं। बहुत बाद में जाकर आर्थिक विकास और शिक्षा का लाभ पाने वाले डच-भाषी लोगों को इस स्थिति से नाराज़गी थी। इसके चलते 1950 और 1960 के दशक में फ्रेंच और डच बोलने वाले समूहों के बीच तनाव बढ़ने लगा। इन दोनों समुदायों के टकराव का सबसे तीखा रूप ब्रूसेल्स में दिखा। यह एक विशेष तरह की समस्या थी। डच बोलने वाले लोग संख्या के हिसाब से अपेक्षाकृत ज़्यादा थे लेकिन धन और समृद्धि के मामले में कमज़ोर और अल्पमत में थे।

आइए, इस स्थिति की तुलना एक और देश से करें। श्रीलंका एक द्वीपीय देश है जो तमिलनाडु के दक्षिणी तट से कुछ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। इसकी आबादी करीब दो करोड़ है यानी हरियाणा के बराबर। दक्षिण एशिया के अन्य देशों की तरह श्रीलंका की आबादी में भी कई जातीय समूहों के लोग हैं। सबसे प्रमुख सामाजिक समूह सिंहलियों का है जिनकी आबादी कुल जनसंख्या की 74 फ़ीसदी है। फिर तमिलों का नंबर आता है जिनकी आबादी कुल जनसंख्या में 18 फ़ीसदी है। तमिलों में भी दो समूह हैं—श्रीलंकाई मूल

एथनीक या जातीय : ऐसा सामाजिक विभाजन जिसमें हर समूह अपनी-अपनी संस्कृति को अलग मानता है यानी यह साझी संस्कृति पर आधारित सामाजिक विभाजन है। किसी भी जातीय समूह के सभी सदस्य मानते हैं कि उनकी उत्पत्ति समान पूर्वजों से हुई है और इसी कारण उनकी शारीरिक बनावट और संस्कृति एक जैसी है। ज़रूरी नहीं कि ऐसे समूह के सदस्य किसी एक धर्म के मानने वाले हों या उनकी राष्ट्रीयता एक हो।
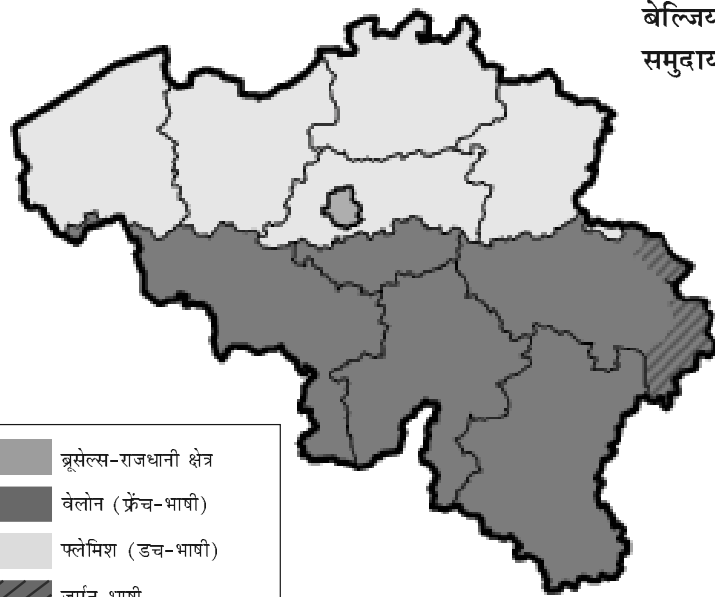
बेल्जियम के समुदाय और क्षेत्र

बेल्जियम और श्रीलंका के मानचित्रों को देखें। इनके किस इलाके में विभिन्न समुदायों की सघन आबादी नज़र आ रही है?

के तमिल (13 फ़ीसदी) और हिंदुस्तानी तमिल जो औपनिवेशिक शासनकाल में बागानों में काम करने के लिए भारत से लाए गए लोगों की संतान हैं। मौजूदा श्रीलंका के नक्शे पर गौर करें तो पाएँगे कि तमिल मुख्य रूप से उत्तर और पूर्वी प्रांतों में आबाद हैं। अधिकतर सिंहली-भाषी लोग बौद्ध हैं जबकि तमिल-भाषी लोगों में कुछ हिंदू हैं और कुछ मुसलमान। श्रीलंका की आबादी में ईसाई लोगों का हिस्सा 7 फ़ीसदी है और वे सिंहली और तमिल, दोनों भाषाएँ बोलते हैं।

अब ज़रा सोचिए कि ऐसी स्थिति में क्या हो सकता था? बेल्जियम में डच-भाषी लोग अपनी बड़ी संख्या के बल पर फ्रेंच-भाषी और जर्मन-भाषी लोगों पर अपनी इच्छाएँ थोप सकते थे। इससे उनके बीच की लड़ाई और बढ़ जाती। संभव था इससे देश बँट जाता और ब्रूसेल्स पर दोनों पक्ष अपना-अपना दावा ठोकते। श्रीलंका में सिंहली आबादी का बहुमत और ज़्यादा था और वे लोग मुल्क में अपनी मनमानी चला सकते थे। आइए, अब यह देखें कि असल में दोनों देशों में क्या-क्या हुआ?

श्रीलंका में बहुसंख्यकवाद

सन् 1948 में श्रीलंका स्वतंत्र राष्ट्र बना। सिंहली समुदाय के नेताओं ने अपनी बहुसंख्या के बल पर शासन पर प्रभुत्व जमाना चाहा। इस वजह से लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित सरकार ने सिंहली समुदाय की प्रभुता कायम करने के लिए अपनी बहुसंख्यक-परस्ती के तहत कई कदम उठाए।

1956 में एक कानून बनाया गया जिसके तहत तमिल को दरकिनार करके सिंहली को एकमात्र राजभाषा घोषित कर दिया गया। विश्वविद्यालयों और सरकारी नौकरियों में सिंहलियों को प्राथमिकता देने की नीति भी चली। नए संविधान में यह प्रावधान भी किया गया कि सरकार बौद्ध मत को संरक्षण और बढ़ावा देगी।

एक-एक करके आए इन सरकारी फ़ैसलों ने श्रीलंकाई तमिलों की नाराज़गी और शासन को लेकर उनमें बेगानापन बढ़ाया। उन्हें लगा कि बौद्ध धर्मावलंबी सिंहलियों के नेतृत्व वाली सारी राजनीतिक पार्टियाँ उनकी भाषा और संस्कृति को लेकर असंवेदनशील हैं। उन्हें लगा कि संविधान और सरकार की नीतियाँ उन्हें समान राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर रही हैं। नौकरियों और फ़ायदे के अन्य कामों में उनके साथ भेदभाव हो रहा है और उनके हितों की अनदेखी की जा रही है। परिणाम यह हुआ कि तमिल और सिंहली समुदायों के संबंध बिगड़ते चले गए।

श्रीलंका के जातीय समुदाय

बहुसंख्यकवाद : यह मान्यता कि अगर कोई समुदाय बहुसंख्यक है तो वह अपने मनचाहे ढंग से देश का शासन कर सकता है और इसके लिए वह अल्पसंख्यक समुदाय की ज़रूरत या इच्छाओं की अवहेलना कर सकता है।

बहुसंख्यक समुदाय के शासन में क्या हर्ज है? अगर श्रीलंका में सिंहलियों का राज नहीं होगा तो किसका राज होगा?

श्रीलंकाई तमिलों ने अपनी राजनीतिक पार्टियाँ बनाई और तमिल को राजभाषा बनाने, क्षेत्रीय स्वायत्तता हासिल करने तथा शिक्षा और रोज़गार में समान अवसरों की माँग को लेकर संघर्ष किया। लेकिन तमिलों की आबादी वाले इलाके की स्वायत्तता की उनकी माँगों को लगातार नकारा गया। 1980 के दशक तक उत्तर-पूर्वी श्रीलंका में स्वतंत्र तमिल ईलम (सरकार) बनाने की माँग को लेकर अनेक राजनीतिक संगठन बने।

श्रीलंका में दो समुदायों के बीच पारस्परिक अविश्वास ने बड़े टकराव का रूप ले लिया। यह टकराव गृहयुद्ध में परिणत हुआ। परिणामस्वरूप दोनों पक्ष के हज़ारों लोग मारे जा चुके हैं। अनेक परिवार अपने मुल्क से भागकर शरणार्थी बन गए हैं। इससे भी कई गुना ज़्यादा लोगों की रोजी-रोटी चौपट हो गई है। आपने पढ़ा है (दसवीं कक्षा के अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक के पहले अध्याय में) कि हमारे क्षेत्र के देशों में आर्थिक विकास, शिक्षा और स्वास्थ्य के मामले में श्रीलंका का रिकॉर्ड सबसे अच्छा है पर वहाँ के गृहयुद्ध से मुल्क के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन में काफ़ी परेशानियाँ पैदा हुई हैं।

बेल्जियम की समझदारी

बेल्जियम के नेताओं ने श्रीलंका से अलग रास्ता अपनाने का फ़ैसला किया। उन्होंने क्षेत्रीय अंतरों और सांस्कृतिक विविधता को स्वीकार किया। 1970 और 1993 के बीच उन्होंने अपने संविधान में चार संशोधन सिर्फ़ इस बात के लिए किए कि देश में रहने वाले किसी भी आदमी को बेगानेपन का अहसास न हो और सभी मिल-जुलकर रह सकें। उन्होंने इसके लिए जो व्यवस्था की वह बहुत ही कल्पनाशील है तथा कोई और देश ऐसा नहीं कर पाया। बेल्जियम के मॉडल (विशेष जानकारियों के लिए देखें बॉक्स) की कुछ मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :

- संविधान में इस बात का स्पष्ट प्रावधान है कि केंद्रीय सरकार में डच और फ्रेंच-भाषी मंत्रियों की संख्या समान रहेगी। कुछ विशेष कानून तभी बन सकते हैं जब दोनों भाषायी समूह के सांसदों का बहुमत उसके पक्ष में हो। इस प्रकार किसी एक समुदाय के लोग एकतरफ़ा फ़ैसला नहीं कर सकते।
- केंद्र सरकार की अनेक शक्तियाँ देश के दो इलाकों की क्षेत्रीय सरकारों को सुपुर्द कर दी गई हैं यानी राज्य सरकारें केंद्रीय सरकार के अधीन नहीं हैं।
- ब्रूसेल्स में अलग सरकार है और इसमें दोनों समुदायों का समान प्रतिनिधित्व है। फ्रेंच-भाषी लोगों ने ब्रूसेल्स में समान प्रतिनिधित्व के इस प्रस्ताव को स्वीकार किया क्योंकि डच-भाषी लोगों ने केंद्रीय सरकार में बराबरी का प्रतिनिधित्व स्वीकार किया था।

गृहयुद्ध : किसी मुल्क में सरकार विरोधी समूहों की हिंसक लड़ाई ऐसा रूप ले ले कि वह युद्ध सा लगे तो उसे गृहयुद्ध कहते हैं।

विकीपीडिया

बेल्जियम की एक बस्ती का पता यहाँ दिए गए फ़ोटोग्राफ में अंकित है। गौर करें कि स्थान का नाम और दिशा की जानकारी दो भाषाओं–फ्रेंच और डच में दी गई है।

भला यह भी कोई समाधान हुआ? मुझे इस बात की खुशी है कि हमारा संविधान ऐसी बातें नहीं कहता कि किस समुदाय से कितने मंत्री होंगे।

● केंद्रीय और राज्य सरकारों के अलावा यहाँ एक तीसरे स्तर की सरकार भी काम करती है यानी सामुदायिक सरकार। इस सरकार का चुनाव एक ही भाषा बोलने वाले लोग करते हैं। डच, फ्रेंच और जर्मन बोलने वाले समुदायों के लोग चाहे वे जहाँ भी रहते हों, इस सामुदायिक सरकार को चुनते हैं। इस सरकार को संस्कृति, शिक्षा और भाषा जैसे मसलों पर फ़ैसले लेने का अधिकार है।

आपको बेल्जियम का मॉडल कुछ जटिल लग सकता है। निश्चित रूप से यह जटिल है–खुद बेल्जियम में रहने वालों के लिए भी। पर यह व्यवस्था बेहद सफल रही है। इससे मुल्क में गृहयुद्ध की आशंकाओं पर विराम लग गया है वरना गृहयुद्ध की स्थिति में बेल्जियम भाषा के आधार पर दो टुकड़ों में बँट गया होता। जब अनेक यूरोपीय देशों ने साथ मिलकर यूरोपीय संघ बनाने का फ़ैसला किया तो ब्रूसेल्स को उसका मुख्यालय चुना गया।

बेल्जियम में स्थित यूरोपीय संघ की संसद

...तो आपके कहने का मतलब है कि सत्ता में हिस्सेदारी से हम ज्यादा ताकतवर होते हैं। यह बात तो कुछ अजीब लगती है। खैर, ज़रा सोचने दीजिए!

कोई एक अखबार पूरे हफ़्ते भर पढ़ें और फिर युद्धों और लड़ाइयों की खबरों की कतरनें जमा करें। पाँच-पाँच छात्रों के दो समूह एक साथ यह काम कर सकते हैं। फिर दोनों समूह अपनी सारी कतरन साथ मिलाकर कुछ इस तरह से काम कर सकते हैं :

- सारे झगड़ों को उनके स्थान (अपने प्रदेश, देश, देश से बाहर) के हिसाब से वर्गीकृत करें।
- इन टकरावों के कारण जानने की कोशिश करें। इनमें से कितने विवाद सत्ता के बँटवारे को लेकर हैं?
- इनमें से किस-किस विवाद को सत्ता में साझेदारी तय करके सुलझाया जा सकता है?

बेल्जियम और श्रीलंका की इन कथाओं से हमें क्या शिक्षा मिलती है? दोनों ही देश लोकतांत्रिक हैं। फिर भी सत्ता में साझेदारी के सवाल को उन्होंने अलग-अलग ढंग से निपटाने की कोशिश की। बेल्जियम के नेताओं को लगा कि विभिन्न समुदाय और क्षेत्रों की भावनाओं का आदर करने पर ही देश की एकता संभव है। इस एहसास के चलते दोनों पक्ष सत्ता में साझेदारी करने पर सहमत हुए। श्रीलंका में ठीक उलटा रास्ता अपनाया गया। इससे यह पता चलता है कि अगर बहुसंख्यक समुदाय दूसरों पर प्रभुत्व कायम करने और सत्ता में उनको हिस्सेदार न बनाने का फ़ैसला करता है तो इससे देश की एकता ही संकट में पड़ सकती है।

जर्मन इंजीनियरिंग का बेहतरीन नमूना...

कैगल कार्टूंस

बाईं तरफ़ अंकित कार्टून में जर्मनी की एक समस्या का संकेत किया गया है। वहाँ क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी नामक दो बड़ी पार्टियों की गठबंधन सरकार है। ऐतिहासिक रूप से ये दोनों पार्टियाँ एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धी रही हैं। सन् 2005 के चुनावों में इन दोनों में से किसी को अपने बूते सरकार बनाने लायक बहुमत नहीं मिला इसलिए इन्हें गठबंधन-सरकार बनानी पड़ी। दोनों दल विभिन्न नीतिगत मामलों पर अलग-अलग पक्ष लेते हैं फिर भी वहाँ साथ मिलकर सरकार चला रहे हैं।

सत्ता की साझेदारी क्यों ज़रूरी है?

इस प्रकार सत्ता के बँटवारे के पक्ष में दो तरह के तर्क दिए जा सकते हैं। पहला, सत्ता का बँटवारा ठीक है क्योंकि इससे विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच टकराव का अंदेशा कम हो जाता है। चूँकि सामाजिक टकराव आगे बढ़कर अक्सर हिंसा और राजनीतिक अस्थिरता का रूप ले लेता है इसलिए सत्ता में हिस्सा दे देना राजनीतिक व्यवस्था के स्थायित्व के लिए अच्छा है। बहुसंख्यक समुदाय की इच्छा को बाकी सभी पर थोपना तात्कालिक तौर पर लाभकारी लग सकता है पर आगे चलकर यह देश की अखंडता के लिए घातक हो सकता है। बहुसंख्यकों का आतंक सिर्फ़ अल्पसंख्यकों के लिए ही परेशानी पैदा नहीं करता अक्सर यह बहुसंख्यकों के लिए भी बर्बादी का कारण बन जाता है।

सत्ता का बँटवारा लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के लिए ठीक है-इसके पक्ष में एक और बात कही जा सकती है और वह बात कहीं ज़्यादा गहरी है। सत्ता की साझेदारी दरअसल लोकतंत्र की आत्मा है। लोकतंत्र का मतलब ही होता है कि जो लोग इस शासन-व्यवस्था के अंतर्गत हैं उनके बीच सत्ता को बाँटा जाए और ये लोग इसी ढर्रे से रहें। इसलिए, वैध सरकार वही है जिसमें अपनी भागीदारी के माध्यम से सभी समूह शासन व्यवस्था से जुड़ते हैं।

इन दो तर्कों में से एक को हम युक्तिपरक और दूसरे को नैतिक तर्क कह सकते हैं। युक्तिपरक या समझदारी का तर्क लाभकर परिणामों पर ज़ोर देता है जबकि नैतिक तर्क सत्ता के बँटवारे के अंतर्भूत महत्त्व को बताता है।

युक्तिपरक: हानि-लाभ का सावधानीपूर्वक हिसाब लगाकर लिया गया फ़ैसला। पूरी तरह से नैतिकता पर आधारित फ़ैसला अक्सर इसके उलट होता है।

एनिते बेल्जियम के उत्तरी इलाके के एक डच माध्यम के स्कूल में पढ़ती है। फ्रेंच बोलने वाले उसके अनेक स्कूली साथी चाहते हैं कि पढ़ाई फ्रेंच में ही हो। सेल्वी श्रीलंका की राजधानी कोलंबो के एक स्कूल में पढ़ती है। वह और उसके स्कूल के बहुत से दोस्त तमिल-भाषी हैं और इनके माता-पिता पढ़ाई का माध्यम तमिल ही रखना चाहते हैं।

- कौन-सी सरकार एनिते और सेल्वी के माता-पिता की इच्छा पूरी कर सकती है? किसे सफलता मिलने की संभावना अधिक है और क्यों?

खलील की उलझन

जैसा कि होता आया है, इस बार भी विक्रम रात की खामोशी में अपनी मोटरसाइकिल चलाए जा रहा था और बेताल उसकी पीठ पर बैठा था। हमेशा की तरह इस बार भी यह सोचकर कि कहीं विक्रम को नींद न आ जाए बेताल ने कहानी सुनाना शुरू किया। कहानी कुछ इस प्रकार थी :

बेरूत शहर में खलील नाम का एक आदमी रहा करता था। उसके माँ-बाप अलग-अलग समुदाय के थे। उसके पिता आर्थोडॉक्स ईसाई थे तो माँ सुन्नी मुसलमान। आधुनिक शहर के लिए यह कोई अनूठी बात न थी। लेबनान में अलग-अलग समुदाय के लोग रहते थे और राजधानी बेरूत में भी बस जाते थे। वे साथ रहते थे, मेल-जोल होता था पर गृहयुद्ध में वे एक-दूसरे से लड़ते भी थे। खलील का एक चाचा ऐसी ही लड़ाई में मारा गया था।

गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद लेबनान के सारे नेता साथ मिलकर बैठे और विभिन्न समुदायों के बीच सत्ता के बँटवारे के कुछ बुनियादी नियमों पर सहमत हुए। इन नियमों के अनुसार तय हुआ कि देश का राष्ट्रपति मैरोनाइट पंथ का कोई कैथोलिक ही होना चाहिए। सिर्फ़ सुन्नी मुसलमान ही प्रधानमंत्री हो सकता है। उपप्रधानमंत्री का पद आर्थोडॉक्स ईसाई और संसद के अध्यक्ष का पद शिया मुसलमान के लिए तय हुआ। इस समझौते के अनुसार आगे से ईसाई फ्रांस से संरक्षण की माँग नहीं करेंगे और मुसलमान भी पड़ोसी सीरिया के साथ एकीकरण की माँग छोड़ने पर सहमत हुए। जब ईसाइयों और मुसलमानों के बीच यह समझौता हुआ था तब दोनों की आबादी लगभग बराबर थी। बाद में मुसलमान स्पष्ट रूप से बहुमत में आ गए पर दोनों पक्ष अभी भी उस समझौते का आदर करते हुए उसे मान रहे हैं।

खलील को इस समझौते में बड़ी गड़बड़ी लगती है। वह राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा वाला लोकप्रिय व्यक्ति है लेकिन मौजूदा व्यवस्था के रहते वह सबसे बड़े पद पर पहुँच ही नहीं सकता। वह न तो माँ के धर्म को मानता है और न ही पिता के। असल में वह चाहता ही नहीं कि उसे किसी भी धर्म से जोड़कर पहचाना जाए। उसे समझ में नहीं आता कि लेबनान भी अन्य 'सामान्य' लोकतंत्रों की तरह क्यों नहीं चलता। उसका कहना है–"सिर्फ़ चुनाव कराइए, हर किसी को चुनाव लड़ने की आज़ादी दीजिए और जिसे सबसे ज़्यादा वोट मिलें वह राष्ट्रपति बन जाए; भले ही वह किसी समुदाय का हो?" लेकिन उसके जिन बड़े-बुजुर्गों ने गृहयुद्ध देखा है उनका कहना है कि मौजूदा व्यवस्था ही शांति की सबसे अच्छी गारंटी है।

अभी कहानी खत्म भी नहीं हुई थी कि वे टीवी टावर के पास पहुँच गए। यहाँ वे रुक सकते थे। बेताल ने जल्दी से कहानी खत्म की और अपना सवाल विक्रम से पूछा, "अगर आपको लेबनान का कानून फिर से लिखने का अधिकार होता तो आप क्या करते? क्या आप पुरानी व्यवस्था ही चलने देते या आप कुछ नया करते?" बेताल विक्रम और अपने बीच हुए समझौते को दोहराना नहीं भूला : "अगर आपके दिमाग में स्पष्ट जवाब है और आप फिर भी नहीं बताते तो आपकी मोटरसाइकिल जाम हो जाएगी और आप आगे नहीं बढ़ पाएँगे?"

क्या आप बेचारे विक्रम को बेताल के सवाल का जवाब देने में मदद कर सकते हैं?

सत्ता की साझेदारी के रूप

राजनीतिक सत्ता का बँटवारा नहीं किया जा सकता – इसी धारणा के विरुद्ध सत्ता की साझेदारी का विचार सामने आया था। लंबे समय से यही मान्यता चली आ रही थी कि सरकार की सारी शक्तियाँ एक व्यक्ति या किसी खास स्थान पर रहने वाले व्यक्ति-समूह के हाथ में रहनी चाहिए। अगर फ़ैसले लेने की शक्ति बिखर गई तो तुरंत फ़ैसले लेना और उन्हें लागू करना संभव नहीं होगा। लेकिन, लोकतंत्र का एक बुनियादी सिद्धांत है कि जनता ही सारी राजनीतिक शक्ति का स्रोत है। इसमें लोग स्व-शासन की संस्थाओं के माध्यम से अपना शासन चलाते हैं। एक अच्छे लोकतांत्रिक शासन में समाज के विभिन्न समूहों और उनके विचारों को उचित सम्मान दिया जाता है और सार्वजनिक नीतियाँ तय करने में सबकी बातें शामिल होती हैं इसलिए उसी लोकतांत्रिक शासन को अच्छा माना जाता है जिसमें ज़्यादा से ज़्यादा नागरिकों को राजनीतिक सत्ता में हिस्सेदार बनाया जाए।

सत्ता की बाग़डोर

ऑले जॉनसन-स्वीडन, केगल कार्टून्स

हाल के समय में रूस में कुछ नए कानून बने हैं। इन कानूनों को बनाकर रूस के राष्ट्रपति को कुछ और शक्तियाँ सौंपी गई हैं। इसी वक्त अमरीकी राष्ट्रपति ने रूस का दौरा किया था। ऊपर दिए गए कार्टून के अनुसार लोकतंत्र और सत्ता के केंद्रीकरण में क्या संबंध है? यहाँ जिस चीज़ की तरफ़ ध्यान खींचा गया है उसकी पुष्टि में क्या आप कुछ और कार्टून जुटा सकते हैं?

आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में सत्ता की साझेदारी के अनेक रूप हो सकते हैं। आइए, हम कुछ प्रचलित उदाहरणों पर गौर करें :

1 शासन के विभिन्न अंग, जैसे विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच सत्ता का बँटवारा रहता है। इसे हम सत्ता का क्षैतिज वितरण कहेंगे क्योंकि इसमें सरकार के विभिन्न अंग एक ही स्तर पर रहकर अपनी-अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं। ऐसे बँटवारे से यह सुनिश्चित हो जाता है कि कोई भी एक अंग सत्ता का असीमित उपयोग नहीं कर सकता। हर अंग दूसरे पर अंकुश रखता है। इससे विभिन्न संस्थाओं के बीच सत्ता का संतुलन बनता है। लोकतांत्रिक संस्थाओं के बारे में 9वीं कक्षा में पढ़ते हुए हमने देखा था कि हमारे देश में कार्यपालिका सत्ता का उपयोग करती ज़रूर है पर यह संसद के अधीन कार्य करती है; न्यायपालिका की नियुक्ति कार्यपालिका करती है पर न्यायपालिका ही कार्यपालिका पर और विधायिका द्वारा बनाए कानूनों पर अंकुश रखती है। इस व्यवस्था को 'नियंत्रण और संतुलन की व्यवस्था' भी कहते हैं।

2 सरकार के बीच भी विभिन्न स्तरों पर सत्ता का बँटवारा हो सकता है : जैसे, पूरे देश के लिए एक सामान्य सरकार हो और फिर प्रांत या क्षेत्रीय स्तर पर अलग-अलग सरकार रहे। पूरे देश के लिए बनने वाली ऐसी सामान्य सरकार को अक्सर संघ या केंद्र सरकार कहते हैं, प्रांतीय या क्षेत्रीय स्तर की सरकारों को हर जगह अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। भारत में हम इन्हें राज्य सरकार कहते हैं। हर देश में बँटवारा ऐसा ही नहीं है। कई देशों में प्रांतीय या क्षेत्रीय सरकारें नहीं हैं। लेकिन हमारी तरह, जिन देशों में ऐसी व्यवस्था है वहाँ के

संविधान में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि केंद्र और राज्य सरकारों के बीच सत्ता का बँटवारा किस तरह होगा। बेल्जियम में तो यह काम हुआ है पर श्रीलंका में नहीं हुआ है। राज्य सरकारों से नीचे के स्तर की सरकारों के लिए भी ऐसी ही व्यवस्था हो सकती है। नगरपालिका और पंचायतें ऐसी ही इकाइयाँ हैं। उच्चतर और निम्नतर स्तर की सरकारों के बीच सत्ता के ऐसे बँटवारे को उर्ध्वाधर वितरण कहा जाता है। हम अगले अध्याय में इस पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

3 सत्ता का बँटवारा विभिन्न सामाजिक समूहों, मसलन, भाषायी और धार्मिक समूहों के बीच भी हो सकता है। बेल्जियम में 'सामुदायिक सरकार' इस व्यवस्था का एक अच्छा उदाहरण है। कुछ देशों के संविधान और कानून में इस बात का प्रावधान है कि सामाजिक रूप से कमज़ोर समुदाय और महिलाओं को विधायिका और प्रशासन में हिस्सेदारी दी जाए। पिछले साल हमने अपने देश में प्रचलित आरक्षित चुनाव क्षेत्र वाली ऐसी ही व्यवस्था के बारे में पढ़ा था। इस तरह की व्यवस्था विधायिका और प्रशासन में अलग-अलग सामाजिक समूहों को हिस्सेदारी देने के लिए की जाती है ताकि लोग खुद को शासन से अलग न समझने लगें। अल्पसंख्यक समुदायों को भी इसी तरीके से सत्ता में उचित हिस्सेदारी दी जाती है। सामाजिक विविधताओं को शासन में भागीदारी देने के अलग-अलग तरीकों पर हम इकाई II में चर्चा करेंगे।

4 सत्ता के बँटवारे का एक रूप हम विभिन्न प्रकार के दबाव-समूह और आंदोलनों द्वारा शासन को प्रभावित और नियंत्रित करने के तरीके में भी लक्ष्य कर सकते हैं। लोकतंत्र में लोगों के सामने सत्ता के दावेदारों के बीच चुनाव का विकल्प ज़रूर रहना चाहिए। समकालीन लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में यह विकल्प विभिन्न पार्टियों के रूप में उपलब्ध होता है। पार्टियाँ सत्ता के लिए आपस में प्रतिस्पर्धा करती हैं। पार्टियों की यह आपसी प्रतिद्वंद्विता ही इस बात को सुनिश्चित कर देती है कि सत्ता एक व्यक्ति या समूह के हाथ में न रहे। एक बड़ी समयावधि पर गौर करें तो पाएँगे कि सत्ता बारी-बारी से अलग-अलग विचारधारा और सामाजिक समूहों वाली पार्टियों के हाथ आती-जाती रहती है। कई बार सत्ता की यह भागीदारी एकदम प्रत्यक्ष दिखती है क्योंकि दो या अधिक पार्टियाँ मिलकर चुनाव लड़ती हैं या सरकार का गठन करती हैं। लोकतंत्र में हम व्यापारी, उद्योगपति, किसान और औद्योगिक मज़दूर जैसे कई संगठित हित-समूहों को भी सक्रिय देखते हैं। सरकार की विभिन्न समितियों में सीधी भागीदारी करके या नीतियों पर अपने सदस्य-वर्ग के लाभ के लिए दबाव बनाकर ये समूह भी सत्ता में भागीदारी करते हैं। इकाई III में हम राजनीतिक दल, दबाव समूह और सामाजिक आंदोलनों की कार्यप्रणाली पर गौर करेंगे।

मेरे स्कूल में हर महीने क्लास मॉनीटर बदल जाता है। क्या आप इसे ही सत्ता की भागीदारी बता रहे हैं?

सत्ता के बँटवारे के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं। ये सत्ता की साझेदारी की चार श्रेणियों में से किसमें आते हैं? यहाँ सत्ता का साझा कौन किसके साथ कर रहा है?

- बंबई उच्च न्यायालय ने महाराष्ट्र सरकार को आदेश दिया कि वह तत्काल कार्रवाई करे और मुंबई के सात अनाथालयों के 2000 बच्चों के रख-रखाव में सुधार करे।
- कनाडा के ओंटेरियो प्रांत की सरकार ने वहाँ के मूलवासी समुदाय के साथ ज़मीन के दावों का निपटारा करने पर सहमति दे दी। स्थानीय मामलों के लिए जवाबदेह मंत्री ने घोषणा की कि सरकार मूलवासी समुदाय के साथ पारस्परिक सम्मान और सहयोग की भावना से काम करेगी।
- रूस की दो प्रभावशाली राजनीतिक पार्टियों–द यूनियन ऑन राइट फोर्सेज और लिबरल याब्लोको मूवमेंट ने एक मज़बूत दक्षिणपंथी गठबंधन बनाने के लिए अपने संगठनों के विलय का फ़ैसला किया। इनका प्रस्ताव है कि अगले संसदीय चुनाव में हम उम्मीदवारों की साझा सूची बनाएँगे।
- नाइजीरिया के विभिन्न प्रांतों के वित्तमंत्रियों ने एकजुट होकर माँग की है कि संघीय सरकार अपनी आमदनी के स्रोतों को घोषित करे। वे यह भी जानना चाहते थे कि विभिन्न प्रान्तों के बीच राजस्व का बँटवारा किस आधार पर होता है।

प्रश्नावली

1. आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में सत्ता की साझेदारी के अलग-अलग तरीके क्या हैं? इनमें से प्रत्येक का एक उदाहरण भी दें।
2. भारतीय संदर्भ में सत्ता की हिस्सेदारी का एक उदाहरण देते हुए इसका एक युक्तिपरक और एक नैतिक कारण बताएँ।
3. इस अध्याय को पढ़ने के बाद तीन छात्रों ने अलग-अलग निष्कर्ष निकाले। आप इनमें से किससे सहमत हैं और क्यों? अपना जवाब करीब 50 शब्दों में दें।

   थम्मन–जिन समाजों में क्षेत्रीय, भाषायी और जातीय आधार पर विभाजन हो सिर्फ़ वहीं सत्ता की साझेदारी ज़रूरी है।

   मथाई–सत्ता की साझेदारी सिर्फ़ ऐसे बड़े देशों के लिए उपयुक्त है जहाँ क्षेत्रीय विभाजन मौजूद होते हैं।

   औसेफ–हर समाज में सत्ता की साझेदारी की ज़रूरत होती है भले ही वह छोटा हो या उसमें सामाजिक विभाजन न हों।
4. बेल्जियम में ब्रूसेल्स के निकट स्थित शहर मर्चटेम के मेयर ने अपने यहाँ के स्कूलों में फ्रेंच बोलने पर लगी रोक को सही बताया है। उन्होंने कहा कि इससे डच भाषा न बोलने वाले लोगों को इस फ्लेमिश शहर के लोगों से जुड़ने में मदद मिलेगी। क्या आपको लगता है कि यह फ़ैसला बेल्जियम की सत्ता की साझेदारी की व्यवस्था की मूल भावना से मेल खाता है? अपना जवाब करीब 50 शब्दों में लिखें।

5. नीचे दिए गए उद्धरण को गौर से पढ़ें और इसमें सत्ता की साझेदारी के जो युक्तिपरक कारण बताए गए हैं उसमें से किसी एक का चुनाव करें।

   "महात्मा गांधी के सपनों को साकार करने और अपने संविधान निर्माताओं की उम्मीदों को पूरा करने के लिए हमें पंचायतों को अधिकार देने की ज़रूरत है। पंचायती राज ही वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना करता है। यह सत्ता उन लोगों के हाथों में सौंपता है जिनके हाथों में इसे होना चाहिए। भ्रष्टाचार कम करने और प्रशासनिक कुशलता को बढ़ाने का एक उपाय पंचायतों को अधिकार देना भी है। जब विकास की योजनाओं को बनाने और लागू करने में लोगों की भागीदारी होगी तो इन योजनाओं पर उनका नियंत्रण बढ़ेगा। इससे भ्रष्ट बिचौलियों को खत्म किया जा सकेगा। इस प्रकार पंचायती राज लोकतंत्र की नींव को मज़बूत करेगा।"

6. सत्ता के बँटवारे के पक्ष और विपक्ष में कई तरह के तर्क दिए जाते हैं। इनमें से जो तर्क सत्ता के बँटवारे के पक्ष में हैं उनकी पहचान करें और नीचे दिए गए कोड से अपने उत्तर का चुनाव करें।

   सत्ता की साझेदारी :

   (क) विभिन्न समुदायों के बीच टकराव को कम करती है।

   (ख) पक्षपात का अंदेशा कम करती है।

   (ग) निर्णय लेने की प्रक्रिया को अटका देती है।

   (घ) विविधताओं को अपने में समेट लेती है।

   (ङ) अस्थिरता और आपसी फूट को बढ़ाती है।

   (च) सत्ता में लोगों की भागीदारी बढ़ाती है।

   (छ) देश की एकता को कमज़ोर करती है।

(सा)	क	ख	घ	च
(रे)	क	ग	ङ	च
(गा)	क	ख	घ	छ
(मा)	ख	ग	घ	छ

7. बेल्जियम और श्रीलंका की सत्ता में साझीदारी की व्यवस्था के बारे में निम्नलिखित बयानों पर विचार करें :

   (क) बेल्जियम में डच-भाषी बहुसंख्यकों ने फ्रेंच-भाषी अल्पसंख्यकों पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयास किया।

   (ख) सरकार की नीतियों ने सिंहली-भाषी बहुसंख्यकों का प्रभुत्व बनाए रखने का प्रयास किया।

   (ग) अपनी संस्कृति और भाषा को बचाने तथा शिक्षा तथा रोज़गार में समानता के अवसर के लिए श्रीलंका के तमिलों ने सत्ता को संघीय ढाँचे पर बाँटने की माँग की।

   (घ) बेल्जियम में एकात्मक सरकार की जगह संघीय शासन व्यवस्था लाकर मुल्क को भाषा के आधार पर टूटने से बचा लिया गया।

   ऊपर दिए गए बयानों में से कौन-से सही हैं?

   (सा) क, ख, ग और घ (रे) क, ख और घ (गा) ग और घ (मा) ख, ग और घ

8. सूची I [सत्ता के बँटवारे के स्वरूप] और सूची 2 [शासन के स्वरूप] में मेल कराएँ और नीचे दिए गए कोड का उपयोग करते हुए सही जवाब दें :

	सूची I	**सूची** II
1.	सरकार के विभिन्न अंगों के बीच सत्ता का बँटवारा	(क) सामुदायिक सरकार
2.	विभिन्न स्तर की सरकारों के बीच अधिकारों का बँटवारा	(ख) अधिकारों का वितरण
3.	विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच सत्ता की साझेदारी	(ग) गठबंधन सरकार
4.	दो या अधिक दलों के बीच सत्ता की साझेदारी	(घ) संघीय सरकार

	1	2	3	4
(सा)	घ	क	ख	ग
(रे)	ख	ग	घ	क
(गा)	ख	घ	क	ग
(मा)	ग	घ	क	ख

9. सत्ता की साझेदारी के बारे में निम्नलिखित दो बयानों पर गौर करें और नीचे दिए गए कोड के आधार पर जवाब दें :

(अ) सत्ता की साझेदारी लोकतंत्र के लिए लाभकर है।

(ब) इससे सामाजिक समूहों में टकराव का अंदेशा घटता है।

इस बयानों में कौन सही है और कौन गलत?

(क) अ सही है लेकिन ब गलत है।
(ख) अ और ब दोनों सही हैं।
(ग) अ और ब दोनों गलत हैं।
(घ) अ गलत है लेकिन ब सही है।

संघवाद

परिचय

पिछले अध्याय में हमने गौर किया था कि शासन के विभिन्न स्तरों के बीच सत्ता का उर्ध्वाधर बँटवारा आधुनिक लोकतंत्रों में सत्ता की साझेदारी का एक आम रूप है। इस अध्याय में हम सत्ता के बँटवारे के इसी स्वरूप पर विचार करेंगे। इसे आमतौर पर संघवाद कहा जाता है। इससे एक ही लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंदर अलग-अलग इलाकों का साथ रहना और चलना संभव हो पाता है। अध्याय के शेष हिस्से में भारत के संघवाद के सिद्धांत और व्यवहार को समझने की कोशिश की गई है। संघीय ढाँचे से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों पर चर्चा के बाद इस अध्याय में संघवाद को मज़बूत करने वाली नीतियों और राजनीति का विश्लेषण किया जाएगा। अध्याय के आखिर में हम भारतीय संघवाद के नए और तीसरे स्तर यानी स्थानीय शासन की चर्चा करेंगे।

अध्याय 2

संघवाद क्या है?

आइए, एक बार फिर पिछले अध्याय में दिए गए बेल्जियम और श्रीलंका के अंतर पर गौर करें। आपको याद होगा कि बेल्जियम के संविधान में जो प्रमुख बदलाव किए गए उनमें केंद्रीय सरकार की शक्ति में कमी करना भी एक था और ये अधिकार प्रांतीय सरकारों को दिए गए। बेल्जियम में उससे पहले से भी प्रांतीय सरकारें थीं। तब भी उनकी अपनी भूमिका थी, अपने अधिकार थे। पर ये अधिकार उनको केंद्र द्वारा दिए गए थे और इन्हें केंद्रीय सरकार वापस भी ले सकती थी। सन् 1993 में कुछ बदलाव हुए और प्रांतीय सरकारों को कुछ संवैधानिक अधिकार दिए गए। इन अधिकारों के लिए प्रांतीय सरकारें अब केंद्र पर निर्भर नहीं रहीं। इस प्रकार बेल्जियम ने एकात्मक शासन की जगह संघीय शासन प्रणाली अपना ली। श्रीलंका में व्यावहारिक रूप से अभी भी एकात्मक शासन व्यवस्था है जिसमें केंद्रीय सरकार के पास ही सारे अधिकार हैं। श्रीलंका के तमिल नेता चाहते थे कि देश में सच्चे अर्थों में संघीय शासन व्यवस्था कायम हो।

संघीय शासन व्यवस्था में सर्वोच्च सत्ता केंद्रीय प्राधिकार और उसकी विभिन्न आनुषंगिक इकाइयों के बीच बँट जाती है। आम तौर पर संघीय व्यवस्था में दो स्तर पर सरकारें होती हैं। इसमें एक सरकार पूरे देश के लिए होती है जिसके ज़िम्मे राष्ट्रीय महत्व के विषय होते हैं। फिर, राज्य या प्रांतों के स्तर की सरकारें होती हैं जो शासन के दैनंदिन कामकाज को देखती हैं। सत्ता के इन दोनों स्तर की सरकारें अपने-अपने स्तर पर स्वतंत्र होकर अपना काम करती हैं।

इस अर्थ में संघीय शासन व्यवस्था एकात्मक शासन व्यवस्था से ठीक उलट है। एकात्मक व्यवस्था में शासन का एक ही स्तर होता है और बाकी इकाइयाँ उसके अधीन होकर काम करती हैं। इसमें केंद्रीय सरकार प्रांतीय या स्थानीय सरकारों को आदेश दे सकती है। पर, संघीय व्यवस्था में

स्रोत : मांट्रियल और किंग्स्टन, हैंडबुक ऑव फेडरल कंट्रीज़ 2002, मैक्गिल-क्वींस यूनिवर्सिटी प्रेस 2002

हालाँकि दुनिया के 192 देशों में से केवल 25 में संघीय शासन व्यवस्था है लेकिन इन देशों में दुनिया की 40 प्रतिशत जनसंख्या रहती है। दुनिया के अधिकतर बड़े देश संघीय हैं। क्या आप इस मानचित्र में इस नियम का एक अपवाद ढूँढ़ सकते हैं?

केंद्रीय सरकार राज्य सरकार को कुछ खास करने का आदेश नहीं दे सकती। राज्य सरकारों के पास अपनी शक्तियाँ होती हैं और इसके लिए वह केंद्रीय सरकार को जवाबदेह नहीं होती हैं। ये दोनों ही सरकारें अपने-अपने स्तर पर लोगों को जवाबदेह होती हैं।

आइए, संघीय व्यवस्था की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं पर गौर करें :

1 यहाँ सरकार दो या अधिक स्तरों वाली होती है।

2 अलग-अलग स्तर की सरकारें एक ही नागरिक समूह पर शासन करती हैं पर कानून बनाने, कर वसूलने और प्रशासन का उनका अपना-अपना अधिकार-क्षेत्र होता है।

3 विभिन्न स्तरों की सरकारों के अधिकार-क्षेत्र संविधान में स्पष्ट रूप से वर्णित होते हैं इसलिए संविधान सरकार के हर स्तर के अस्तित्व और प्राधिकार की गारंटी और सुरक्षा देता है।

4 संविधान के मौलिक प्रावधानों को किसी एक स्तर की सरकार अकेले नहीं बदल सकती। ऐसे बदलाव दोनों स्तर की सरकारों की सहमति से ही हो सकते हैं।

5 अदालतों को संविधान और विभिन्न स्तर की सरकारों के अधिकारों की व्याख्या करने का अधिकार है। विभिन्न स्तर की सरकारों के बीच अधिकारों के विवाद की स्थिति में सर्वोच्च न्यायालय निर्णायक की भूमिका निभाता है।

6 वित्तीय स्वायत्तता निश्चित करने के लिए विभिन्न स्तर की सरकारों के लिए राजस्व के अलग-अलग स्रोत निर्धारित हैं।

7 इस प्रकार संघीय शासन व्यवस्था के दोहरे उद्‌देश्य हैं : देश की एकता की सुरक्षा करना और उसे बढ़ावा देना तथा इसके साथ ही क्षेत्रीय विविधताओं का पूरा सम्मान करना। इस कारण संघीय व्यवस्था के गठन और कामकाज के लिए दो चीज़ें सबसे महत्वपूर्ण हैं। विभिन्न स्तरों की सरकारों के बीच सत्ता के बँटवारे के नियमों पर सहमति होनी चाहिए और इनका एक-दूसरे पर भरोसा होना चाहिए कि वे अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों को मानेंगे। आदर्श संघीय व्यवस्था में ये दोनों पक्ष होते हैं: आपसी भरोसा और साथ रहने पर सहमति।

केंद्र और विभिन्न राज्य सरकारों के बीच सत्ता का बँटवारा हर संघीय सरकार में अलग-अलग किस्म का होता है।

यह बात इस चीज़ पर निर्भर करती है कि संघ की स्थापना किन ऐतिहासिक संदर्भों में हुई। संघीय शासन व्यवस्थाएँ आमतौर पर दो तरीकों से गठित होती हैं। पहला तरीका है दो या अधिक स्वतंत्र राष्ट्रों को साथ लाकर एक बड़ी इकाई गठित करने का। इसमें दोनों स्वतंत्र राष्ट्र अपनी संप्रभुता को साथ करते हैं, अपनी अलग-अलग पहचान को भी बनाए रखते हैं और अपनी सुरक्षा तथा खुशहाली बढ़ाने का रास्ता अख्तियार करते हैं। साथ आकर संघ बनाने के उदाहरण हैं-संयुक्त राज्य अमरीका, स्विट्जरलैंड और ऑस्ट्रेलिया वगैरह। इस तरह की संघीय व्यवस्था वाले मुल्कों में आमतौर पर प्रांतों को समान अधिकार होता है और वे केंद्र के बरक्स ज़्यादा ताकतवर होते हैं।

संघीय शासन व्यवस्था के गठन का दूसरा तरीका है बड़े देश द्वारा अपनी आंतरिक विविधता को ध्यान में रखते हुए राज्यों का गठन करना और फिर राज्य और राष्ट्रीय सरकार के बीच सत्ता का बँटवारा कर देना। भारत, बेल्जियम और स्पेन इसके उदाहरण हैं। इस दूसरी श्रेणी वाली व्यवस्था में राज्यों के बरक्स केंद्र सरकार ज़्यादा ताकतवर हुआ करती है। अक्सर इस व्यवस्था में विभिन्न राज्यों को समान अधिकार दिए जाते हैं पर विशेष स्थिति में किसी-किसी प्रांत को विशेष अधिकार भी दिए जाते हैं।

संघीय व्यवस्था जब सिर्फ़ बड़े देशों के अनुकूल है तो बेल्जियम ने इसे क्यों अपनाया?

अधिकार-क्षेत्र : ऐसा दायरा जिस पर किसी का वैधानिक अधिकार हो। यह दायरा भौगोलिक सीमा के अंतर्गत परिभाषित होता है अथवा इसके अंतर्गत कुछ विषयों को भी रखा जा सकता है।

कुछ नेपाली नागरिक अपने संविधान में संघीय व्यवस्था अपनाने की बात कर रहे थे। उनकी चर्चा कुछ इस प्रकार की थी :

खगराज : मुझे संघीय व्यवस्था पसंद नहीं है। इससे भारत की तरह हमारे यहाँ भी सीटों को आरक्षित करना पड़ेगा।

मीता : हमारा देश तो कोई बड़ा नहीं है। हमें संघ की क्या ज़रूरत है?

बाबूलाल : मुझे लगता है कि अगर तराई क्षेत्र की अपनी अलग राज्य सरकार बने तो क्षेत्र को ज़्यादा स्वायत्तता मिल सकेगी।

रामगणेश : मुझे संघीय व्यवस्था पसंद है क्योंकि इसका मतलब होगा कि पहले राजा जिन शक्तियों का प्रयोग करता था उनका इस्तेमाल इस व्यवस्था में हमारे निर्वाचित प्रतिनिधि करेंगे।

अगर आप इस चर्चा में शामिल होते तो प्रत्येक टिप्पणी पर आपकी क्या प्रतिक्रिया होती? इनमें से किसने संघीय व्यवस्था को लेकर गलत टिप्पणी की है?

भारत में संघीय व्यवस्था

हमने पहले देखा है कि बेल्जियम और श्रीलंका जैसे छोटे देशों को भी अपने यहाँ की विविधता को सँभालने में बड़ी मुश्किलें आती हैं। सोचिए कि भारत जैसे विशाल मुल्क में यह काम कितना मुश्किल होगा जहाँ बहुत-सी भाषाओं, धर्मों और क्षेत्रों के लोग रहते हैं? हमारे देश में सत्ता की साझेदारी की क्या व्यवस्था है?

आइए, संविधान से ही शुरुआत करें। एक बहुत ही दुखद और रक्तरंजित विभाजन के बाद भारत आज़ाद हुआ। आज़ादी के कुछ समय बाद ही अनेक स्वतंत्र रजवाड़े भारत में विलीन हो गए। भारतीय संविधान ने भारत को राज्यों का संघ घोषित किया। इसमें संघ शब्द नहीं आया पर भारतीय संघ का गठन संघीय शासन व्यवस्था के सिद्धांत पर हुआ है।

क्या यह कुछ अजीब बात नहीं है? क्या हमारे संविधान निर्माताओं को मालूम नहीं था कि संघीय व्यवस्था क्या होती है या वे इसके बारे में कहने से बचना चाहते थे?

आइए, हमने ऊपर संघीय व्यवस्था की जिन सात विशेषताओं का ज़िक्र किया था उन्हें फिर से देख लें। हम देख सकते हैं कि ये सभी बातें भारतीय संविधान के विभिन्न प्रावधानों पर लागू होती हैं। संविधान ने मैलिक रूप से दो स्तरीय शासन व्यवस्था का प्रावधान किया था–संघ सरकार (या हम जिसे केंद्र सरकार कहते हैं) और राज्य सरकारें। केंद्र सरकार को पूरे भारतीय संघ का प्रतिनिधित्व करना था। बाद में पंचायतों और नगरपालिकाओं के रूप में संघीय शासन का एक तीसरा स्तर भी जोड़ा गया। किसी भी संघीय व्यवस्था की तरह अपने यहाँ भी तीनों स्तर की शासन व्यवस्थाओं के अपने अलग-अलग अधिकार क्षेत्र हैं। संविधान में स्पष्ट रूप से केंद्र और राज्य सरकारों के बीच विधायी अधिकारों को तीन हिस्से में बाँटा गया है। ये तीन सूचियाँ इस प्रकार हैं:

- संघ सूची में प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, बैंकिंग, संचार और मुद्रा जैसे राष्ट्रीय महत्व के विषय हैं। पूरे देश के लिए इन मामलों में एक तरह की नीतियों की ज़रूरत है। इसी कारण इन विषयों को संघ सूची में डाला गया है। संघ सूची में वर्णित विषयों के बारे में कानून बनाने का अधिकार सिर्फ़ केंद्र सरकार को है।
- राज्य सूची में पुलिस, व्यापार, वाणिज्य, कृषि और सिंचाई जैसे प्रांतीय और स्थानीय महत्व के विषय हैं। राज्य सूची में वर्णित विषयों के बारे में सिर्फ़ राज्य सरकार ही कानून बना सकती है।
- समवर्ती सूची में शिक्षा, वन, मज़दूर-संघ, विवाह, गोद लेना और उत्तराधिकार जैसे वे विषय हैं जो केंद्र के साथ राज्य सरकारों की साझी दिलचस्पी में आते हैं।

इन विषयों पर कानून बनाने का अधिकार राज्य सरकारों और केंद्र सरकार, दोनों को ही है। लेकिन जब दोनों के कानूनों में टकराव हो तो केंद्र सरकार द्वारा बनाया कानून ही मान्य होता है।

यहाँ एक सवाल यह उठता है कि जो विषय इनमें से किसी सूची में नहीं आते उनका क्या होता है? फिर कंप्यूटर साफ्टवेयर जैसे विषय किसके अधिकार-क्षेत्र में रहें क्योंकि ये संविधान बनने के बाद आए हैं? हमारे संविधान के अनुसार 'बाक़ी बचे' विषय केंद्र सरकार के अधिकार क्षेत्र में चले जाते हैं।

हमने ऊपर देखा कि 'सबको साथ लेकर' चलने की नीति मानकर बनी अधिकतर बड़ी संघीय व्यवस्थाओं में साथी इकाइयों को बराबर अधिकार नहीं मिलते। भारतीय संघ के सारे राज्यों को भी बराबर अधिकार नहीं हैं। कुछ राज्यों को विशेष दर्जा प्राप्त है। भारत में जम्मू-कश्मीर एकमात्र ऐसा राज्य है जिसका अपना संविधान है। इस राज्य में विधान सभा की अनुमति के बगैर भारतीय संविधान के कई प्रावधानों को लागू नहीं किया जाता। इस राज्य के स्थायी निवासियों के अतिरिक्त कोई भी भारतीय नागरिक यहाँ ज़मीन या मकान नहीं खरीद सकता। असल में भारत के कई अन्य प्रदेशों के लिए भी कुछ ऐसे ही विशेष प्रावधान किए गए हैं।

भारतीय संघ की कई इकाइयों को बहुत ही कम अधिकार हैं। ये वैसे छोटे इलाके हैं जो अपने आकार के चलते स्वतंत्र प्रांत नहीं बन सकते। इन्हें किसी मौजूदा प्रांत में विलीन करना भी संभव नहीं है। चंडीगढ़ या लक्षद्वीप अथवा देश की राजधानी दिल्ली जैसे इलाके इसी कोटि में आते हैं और इन्हें केंद्र शासित प्रदेश कहा जाता है। इन क्षेत्रों को राज्यों वाले अधिकार नहीं हैं। इन इलाकों का शासन चलाने का विशेष अधिकार केंद्र सरकार को प्राप्त है।

केंद्र और राज्य सरकारों के बीच सत्ता का यह बँटवारा हमारे संविधान की बुनियादी बात है। अधिकारों के इस बँटवारे में बदलाव करना आसान नहीं है। अकेले संसद इस व्यवस्था में बदलाव नहीं कर सकती। ऐसे किसी भी बदलाव को पहले संसद के दोनों सदनों में दो-तिहाई बहुमत से मंज़ूर किया जाना होता है। फिर कम से कम आधे राज्यों की विधान सभाओं से उसे मंज़ूर करवाना होता है।

संवैधानिक प्रावधानों और कानूनों के क्रियान्वयन की देख-रेख में न्यायपालिका महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। शक्तियों के बँटवारे के संबंध में कोई विवाद होने की हालत में फ़ैसला उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय में ही होता है। सरकार चलाने और अपनी ज़िम्मेवारियों का निर्वाह करने के लिए ज़रूरी राजस्व की उगाही के संबंध में केंद्र और राज्य सरकारों को कर लगाने और संसाधन जमा करने के अधिकार हैं।

अगर कृषि और वाणिज्य राज्य के विषय हैं तो केंद्र में कृषि और वाणिज्य मंत्री क्यों बनाए जाते हैं?

आकाशवाणी पर एक हफ़्ते तक एक राष्ट्रीय और एक क्षेत्रीय समाचार बुलेटिन रोज़ सुनें। सरकारी नीतियों और फ़ैसलों से जुड़ी खबरों की सूची बनाएँ और उनको निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटें :

- सिर्फ़ केंद्र सरकार से जुड़ी खबरें।
- आपके या किसी अन्य राज्य सरकार से जुड़ी खबरें।
- केंद्र और राज्य सरकार के संबंध की खबरें।

- पोखरण, जहाँ भारत ने अपने परमाणु परीक्षण किए, राजस्थान में पड़ता है। मान लें कि अगर राजस्थान की सरकार केंद्र सरकार की परमाणु-नीति की विरोधी होती तो क्या वह केंद्र सरकार को परमाणु परीक्षण करने से रोक सकती थी?
- मान लें कि सिक्किम की सरकार अपने स्कूलों में नयी पाठ्यपुस्तकें लागू करना चाहती है। मान लें कि केंद्र सरकार को पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु और शैली पसंद नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या राज्य सरकार को नयी पाठ्यपुस्तकें लागू करने के लिए केंद्र सरकार से अनुमति लेना ज़रूरी है?
- मान लें कि नक्सलियों से निपटने की नीतियों के बारे में आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़ और ओड़िसा के मुख्यमंत्रियों की राय अलग-अलग है। क्या ऐसे मामले में भारत के प्रधानमंत्री दखल दे सकते हैं और क्या ऐसा आदेश जारी कर सकते हैं जिसे सभी मुख्यमंत्री मानें?

संघीय व्यवस्था कैसे चलती है?

संघीय व्यवस्था के कारगर कामकाज के लिए संवैधानिक प्रावधान ज़रूरी हैं पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। अगर भारत में संघीय शासन व्यवस्था कारगर हुई है तो इसका कारण सिर्फ़ संवैधानिक प्रावधानों भर का होना नहीं है। भारत में संघीय व्यवस्था की सफलता का मुख्य श्रेय यहाँ की लोकतांत्रिक राजनीति के चरित्र को देना होगा। इसी से
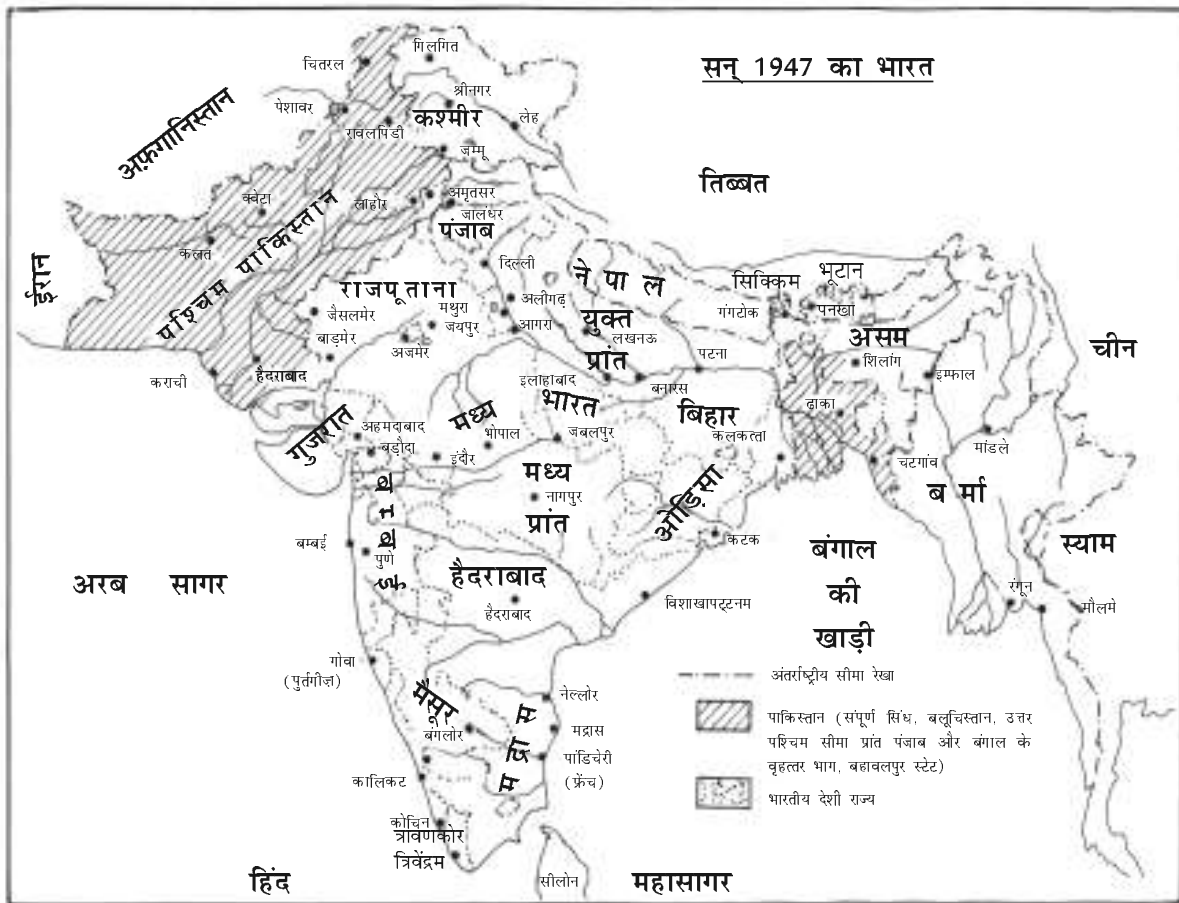
संघवाद की भावना, विविधता का आदर और संग-साथ रहने की इच्छा का हमारे देश के साझा आदर्श के रूप में स्थापित होना सुनिश्चित हुआ। आइए, कुछ प्रमुख बातों पर गौर करें जिनसे पता चलता है कि यह काम किस तरह हो पाया है।

भाषायी राज्य

भाषा के आधार पर प्रांतों का गठन हमारे देश की लोकतांत्रिक राजनीति के लिए पहली और एक कठिन परीक्षा थी। भारत ने सन् 1947 में लोकतंत्र की राह पर अपनी जीवन-यात्रा शुरू की। उस वक्त से लेकर सन् 2006 तक का अगर आप राजनीतिक मानचित्र देखें तो इस अवधि में आए बदलावों को देखकर एकबारगी आप आश्चर्यचकित रह जाएँगे। अनेक पुराने प्रांत गायब हो गए और कई नए प्रांत बनाए गए। कई प्रांतों की सीमाएँ, क्षेत्र और नाम बदल गए।

नए राज्यों को बनाने के लिए 1950 के दशक में भारत के कई पुराने राज्यों की सीमाएँ बदलीं। ऐसा यह सुनिश्चित करने के लिए किया गया कि एक भाषा बोलने वाले लोग एक राज्य में आ जाएँ। इसके बाद कुछ अन्य राज्यों का गठन भाषा के आधार पर नहीं बल्कि संस्कृति, भूगोल अथवा जातीयताओं (एथनीसिटी) की विभिन्नता को रेखांकित करने और उन्हें आदर देने के लिए भी किया गया। इनमें नगालैंड, उत्तराखंड और झारखंड जैसे राज्य शामिल हैं।

जब एक भाषा के आधार पर राज्यों के गठन की बात उठी तो कई राष्ट्रीय नेताओं को डर था कि इससे देश टूट जाएगा। केंद्र सरकार ने इसी के चलते राज्यों का पुनर्गठन कुछ समय के लिए टाल दिया था पर हमारा अनुभव बताता है कि भाषावार राज्य बनाने से देश ज़्यादा एकीकृत और मज़बूत हुआ। इससे प्रशासन भी पहले की अपेक्षा कहीं ज़्यादा सुविधाजनक हो गया है।
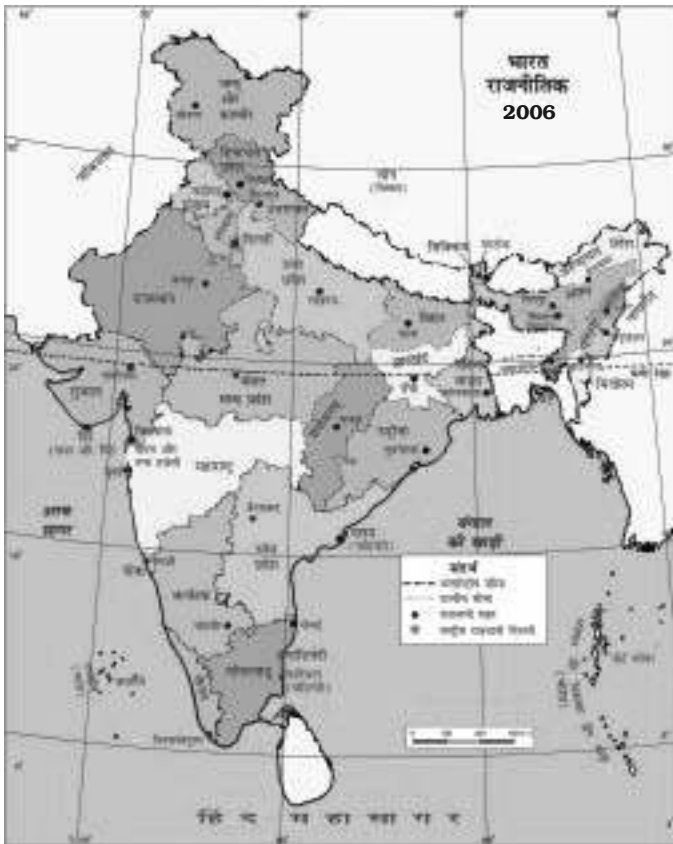
- *क्या आपका गाँव या शहर आज़ादी के बाद से एक ही प्रांत के अंतर्गत रहा है? अगर नहीं तो इससे पहले के राज्य का क्या नाम था?*
- *क्या आप 1947 के तीन राज्यों के ऐसे नामों को याद कर सकते हैं जो आज बदल गए हैं?*
- *तीन ऐसे राज्यों की पहचान करें जिन्हें बड़े राज्यों को काटकर बनाया गया है।*

भाषा-नीति

भारत के संघीय ढाँचे की दूसरी परीक्षा भाषा-नीति को लेकर हुई। हमारे संविधान में किसी एक भाषा को राष्ट्रभाषा का दर्जा नहीं दिया गया। हिंदी को राजभाषा माना गया पर हिंदी सिर्फ़ 40 फ़ीसदी (लगभग) भारतीयों की मातृभाषा है इसलिए अन्य भाषाओं के संरक्षण के अनेक दूसरे उपाय किए गए। संविधान में हिंदी के अलावा अन्य 21 भाषाओं को अनुसूचित भाषा का दर्जा दिया गया है। केंद्र सरकार के किसी पद का उम्मीदवार इनमें से किसी भी भाषा में परीक्षा दे सकता है बशर्ते उम्मीदवार इसको विकल्प के रूप में चुने। राज्यों की भी अपनी राजभाषाएँ हैं। राज्यों का अपना अधिकांश काम अपनी राजभाषा में ही होता है।

हिंदी अपनाएँ

हिंदी ही क्यों? बांग्ला या तेलुगु क्यों नहीं?

श्रीलंका के ठीक उलट हमारे देश के नेताओं ने हिंदी के उपयोग को बढ़ावा देने के मामले में बहुत सावधानी भरा व्यवहार किया। संविधान के अनुसार सरकारी कामकाज की भाषा के तौर पर अंग्रेज़ी का प्रयोग 1965 में बंद हो जाना चाहिए था पर अनेक गैर-हिंदी भाषी प्रदेशों ने मांग की कि अँगरेज़ी का प्रयोग जारी रखा जाए। तमिलनाडु में तो इस माँग ने उग्र रूप भी ले लिया था। केंद्र सरकार ने हिंदी के साथ-साथ अँगरेज़ी को राजकीय कामों में प्रयोग की अनुमति देकर इस विवाद को सुलझाया। अनेक लोगों का मानना था कि इस समाधान से अँगरेज़ी-भाषी अभिजन को लाभ पहुँचेगा। राजभाषा के रूप में हिंदी को बढ़ावा देने की भारत सरकार की नीति बनी हुई है पर बढ़ावा देने का मतलब यह नहीं कि केंद्र सरकार उन राज्यों पर भी हिंदी को थोप सकती है जहाँ लोग कोई और भाषा बोलते हैं। भारतीय राजनेताओं ने इस मामले में जो लचीला रुख अपनाया उसी से हम श्रीलंका जैसी स्थिति में पहुँचने से बच गए।

केंद्र-राज्य संबंध

केंद्र-राज्य संबंधों में लगातार आए बदलाव का यह उदाहरण बताता है कि व्यवहार में संघवाद किस तरह मज़बूत हुआ है। सत्ता की साझेदारी की संवैधानिक व्यवस्था वास्तविकता में कैसा रूप लेगी यह ज़्यादातर इस बात पर निर्भर करता है कि शासक दल और नेता किस तरह इस व्यवस्था का अनुसरण करते हैं। काफ़ी समय तक हमारे यहाँ एक ही पार्टी का केंद्र और अधिकांश राज्यों में शासन रहा। इसका व्यावहारिक मतलब यह हुआ कि राज्य सरकारों ने स्वायत्त संघीय इकाई के रूप में अपने अधिकारों का प्रयोग नहीं किया। जब केंद्र और राज्य में अलग-अलग दलों की सरकारें रहीं तो केंद्र सरकार ने राज्यों के अधिकारों की अनदेखी करने की कोशिश की। उन दिनों केंद्र सरकार अक्सर संवैधानिक प्रावधानों का दुरुपयोग करके विपक्षी दलों की राज्य सरकारों को भंग कर देती थी। यह संघवाद की भावना के प्रतिकूल काम था।

1990 के बाद से यह स्थिति काफ़ी बदल गई। इस अवधि में देश के अनेक राज्यों में क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ। यही दौर केंद्र में गठबंधन सरकार की शुरुआत का भी था। चूँकि किसी एक दल को लोकसभा में स्पष्ट बहुमत नहीं मिला इसलिए प्रमुख राष्ट्रीय पार्टियों को क्षेत्रीय दलों समेत अनेक पार्टियों का गठबंधन बनाकर सरकार बनानी पड़ी। इससे सत्ता में साझेदारी और राज्य सरकारों की स्वायत्तता का आदर करने की नई संस्कृति पनपी। इस प्रवृत्ति को सुप्रीम कोर्ट के एक बड़े फ़ैसले से भी बल मिला। इस फ़ैसले के कारण राज्य सरकार को मनमाने ढंग से भंग करना केंद्र सरकार के लिए मुश्किल हो गया। इस प्रकार आज संघीय व्यवस्था के तहत सत्ता की साझेदारी संविधान लागू होने के तत्काल बाद वाले दौर की तुलना में ज़्यादा प्रभावी है।

गठबंधन सरकार : एक से ज़्यादा राजनीतिक पार्टियों द्वारा साथ मिलकर बनाई गई सरकार को गठबंधन सरकार कहते हैं। आम तौर पर गठबंधन में शामिल दल एक राजनीतिक गठजोड़ करते हैं और एक साझा कार्यक्रम स्वीकार करते हैं।

राज्य कुछ और शक्तियाँ माँग रहे हैं...

कुट्टी-लाफिंग विद् कुट्टी

गठबंधन सरकार की कुर्सी

अजित नीनन-इंडिया टुडे बुक ऑव कार्टून्स

यहाँ अंकित दोनों कार्टूनों में केंद्र और राज्यों के बीच का संबंध दिखाया गया है। क्या राज्यों को केंद्र से गुहार लगानी चाहिए कि हमें कुछ और शक्तियाँ दे दो? किसी गठबंधन सरकार का नेता सरकार में शामिल बाकी दलों को कैसे संतुष्ट रखे?

आप यह कह रहे हैं कि क्षेत्रवाद लोकतंत्र के लिए अच्छा है? क्या आप गंभीरता से ऐसा कह रहे हैं?

भारत की भाषायी विविधता

भारत में कितनी भाषाएँ हैं? इसका जवाब इस बात पर निर्भर करता है कि आप भाषाओं की गिनती किस तरह करते हैं। इस बारे में अधिकृत नवीनतम सूचना 1991 की जनगणना के आँकड़ों से हासिल होती है। इस जनगणना में लोगों ने 1500 से ज़्यादा अलग-अलग भाषाओं को अपनी मातृभाषा के रूप में दर्ज कराया था। इन भाषाओं को कुछ प्रमुख भाषाओं के साथ समूहबद्ध कर दिया जाता है। जैसे–भोजपुरी, मगही, बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी, राजस्थानी, भीली और ऐसी ही दूसरी भाषाओं को हिंदी के अंदर जोड़ लिया जाता है। ऐसी समूहबद्धता के बाद भी जनगणना में 114 प्रमुख भाषाएँ पाई गईं। इनमें से 22 भाषाओं को भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में रखा गया है और इसी कारण इन्हें अनुसूचित भाषाएँ कहा जाता है। बाकी को गैर-अनुसूचित भाषा कहते हैं। भाषा के हिसाब से भारत दुनिया का संभवतः सबसे ज़्यादा विविधता वाला देश है।

साथ लगी सूची को देखने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि कोई एक भाषा बहुसंख्यक भारतीयों की मातृभाषा नहीं है। सबसे बड़ी भाषा हिंदी भी सिर्फ़ 40 फ़ीसदी लोगों की ही मातृभाषा है। अगर दूसरी या तीसरी भाषा के तौर पर हिंदी जानने वालों की संख्या भी जोड़ ली जाय तो भी 1991 में यह संख्या 50 फ़ीसदी से कम ही थी। जहाँ तक अंग्रेज़ी की बात है तो सिर्फ़ 0.20 फ़ीसदी लोगों ने इसे अपनी मातृभाषा बताया था। दूसरी या तीसरी भाषा के तौर पर 11 फ़ीसदी लोग इसे जानते थे।

इस सूची को गौर से देखें लेकिन इसे याद करने की ज़रूरत नहीं है, सिर्फ़ इन कामों को कीजिए:

- इस सूचना के आधार पर बार या पाई चार्ट बनाएँ।
- भारत की भाषायी विविधता को दर्शाने वाला एक नक्शा बनाइए। नक्शे में विभिन्न इलाकों को अलग-अलग रंग से भरें और दिखाएँ कि उन इलाकों के लोग कौन सी भाषा बोलते हैं।
- ऐसी तीन भाषाएँ ढूँढें जिनको भारत में बोला तो जाता है पर जो इस सूची में नहीं हैं।

भारत की अनुसूचित भाषाएँ

भाषा	**बोलने वालों का अनुपात (%)**
असमिया	1.6
बांग्ला	8.3
बोडो	0.1
डोगरी	0.2
गुजराती	4.9
हिंदी	40.2
कन्नड़	3.9
कश्मीरी	0.5
कोंकणी	0.2
मैथिली	0.9
मलयालम	3.6
मणिपुरी	0.2
मराठी	7.5
नेपाली	0.3
ओड़िया	3.4
पंजाबी	2.8
संस्कृत	0.01
संथाली	0.6
सिंधी	0.3
तमिल	6.3
तेलुगु	7.9
उर्दू	5.2

इस चार्ट के पहले खाने में भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में दर्ज भाषाओं को लिखा गया है। दूसरे खाने में भारत की आबादी में इस भाषा को बोलने वालों का प्रतिशत अनुपात दिया गया है। ये आँकड़े 1991 की जनगणना पर आधारित हैं। कश्मीरी और डोगरी के आँकड़े अनुमान पर आधारित हैं क्योंकि 1991 में जम्मू-कश्मीर में जनगणना नहीं हुई थी।

प्रसिद्ध इतिहासकार रामचंद्र गुहा के आलेख से उद्धृत निम्नलिखित उद्धरणों को पढ़ें। यह आलेख 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में 1 नवंबर 2006 को छपा था :

राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट को आज से ठीक पचास साल पहले 1 नवंबर 1956 को लागू किया गया था। अपने दौर में और अपने तरीके से इसने राष्ट्र के राजनीतिक और संस्थागत जीवन को एकदम बदल दिया था ... गांधीजी और अन्य नेताओं ने अपने अनुयायियों से वादा किया था कि जब मुल्क आज़ाद होगा तो इस नए देश में नए प्रांत बनेंगे और भाषा के आधार पर प्रांतों का पुनर्गठन किया जाएगा। पर जब 1947 में मुल्क आज़ाद हुआ तो इसका बँटवारा भी हो गया...

विभाजन धार्मिक आस्था से पुरातन जुड़ाव का परिणाम था। पुरातनी आस्था की एक ऐसी ही चीज़ भाषा इसके आधार पर अब कितने विभाजन होंगे? नेहरू, पटेल और राजाजी के मन यह सवाल कौंध रहा था।

बहरहाल, भारत की एकता को कमज़ोर करने की जगह भाषा के आधार पर गठित राज्यों ने इसकी एकता को मज़बूत करने में मदद की है। एक व्यक्ति कन्नड़ और भारतीय या बंगाली और भारतीय अथवा तमिल और भारतीय या गुजराती और भारतीय जैसी दो-दो पहचानों के साथ आसानी से जीता है।

ये विवाद सुखद तो नहीं लेकिन उतने बुरे भी नहीं कहे जा सकते।

भाषावार राज्यों के गठन ने भारत को एक भयावह स्थिति से बचा लिया। अगर तेलुगु, मराठी वगैरह बोलने वालों की भावनाओं का ख्याल न रखा गया होता तो यहाँ की स्थिति कुछ इस प्रकार की होती : एक भाषा : 14-15 राष्ट्र।

अपने राज्य या अन्य किसी ऐसे राज्य का उदाहरण लें जो भाषावार पुनर्गठन से प्रभावित हुआ। यहाँ जो तर्क दिया गया है उसके पक्ष या विपक्ष में उदाहरणों के साथ टिप्पणी लिखें।

भारत में विकेंद्रीकरण

हमने अभी पढ़ा कि संघीय सरकारें दो या अधिक स्तरों वाली होती हैं। हमने अपने देश में दो स्तरों वाली सरकार की चर्चा की है पर भारत जैसे विशाल देश में सिर्फ़ दो स्तर की शासन व्यवस्था से ही बढ़िया शासन नहीं चल सकता। भारत के प्रांत यूरोप के स्वतंत्र देशों से भी बड़े हैं। जनसंख्या के हिसाब से उत्तर प्रदेश रूस से बड़ा है। महाराष्ट्र लगभग जर्मनी के बराबर है। भारत के अनेक राज्य खुद भी अंदरूनी तौर पर विविधताओं से भरे हैं। इस प्रकार इन राज्यों में भी सत्ता को बाँटने की ज़रूरत है। भारत में संघीय सत्ता की साझेदारी तीन स्तरों पर करने की ज़रूरत है जिसमें तीसरा स्तर स्थानीय सरकारों का हो और यह प्रांतीय स्तर की सरकार के नीचे हो। भारत में सत्ता के विकेंद्रीकरण के पीछे यही तर्क दिया गया। इसके फलस्वरूप तीन स्तरों की सरकार का संघीय ढाँचा सामने आया जिसमें तीसरे स्तर को स्थानीय शासन कहा जाता है।

जब केंद्र और राज्य सरकार से शक्तियां लेकर स्थानीय सरकारों को दी जाती हैं तो इसे सत्ता का विकेंद्रीकरण कहते हैं। विकेंद्रीकरण के पीछे बुनियादी सोच यह है कि अनेक मुद्दों और समस्याओं का निपटारा स्थानीय स्तर पर ही बढ़िया ढंग से हो सकता है। लोगों को अपने इलाके की समस्याओं की बेहतर समझ होती है। लोगों को इस बात की भी अच्छी जानकारी होती है कि पैसा कहाँ खर्च किया जाए और चीज़ों का अधिक कुशलता से उपयोग किस तरह किया जा सकता है। इसके अलावा स्थानीय स्तर पर लोगों को फ़ैसलों में सीधे भागीदार बनाना भी संभव हो जाता है। इससे लोकतांत्रिक भागीदारी की आदत पड़ती है। स्थानीय सरकारों की स्थापना स्व-शासन के लोकतांत्रिक सिद्धांत को वास्तविक बनाने का सबसे अच्छा तरीका है।

विकेंद्रीकरण की ज़रूरत हमारे संविधान में भी स्वीकार की गई। इसके बाद से गाँव और शहर के स्तर पर सत्ता के विकेंद्रीकरण की कई कोशिशें हुई हैं। सभी राज्यों में गाँव के स्तर पर ग्राम पंचायतों और शहरों में नगरपालिकाओं की स्थापना की गई थी। पर इन्हें राज्य सरकारों के सीधे नियंत्रण में रखा गया था। इन स्थानीय सरकारों के लिए नियमित ढंग से चुनाव भी नहीं कराए जाते थे। इनके पास न तो अपना कोई अधिकार था न संसाधन। इस प्रकार प्रभावी ढंग से सत्ता का विकेंद्रीकरण नाम मात्र का हुआ था।

वास्तविक विकेंद्रीकरण की दिशा में एक बड़ा कदम 1992 में उठाया गया। संविधान में संशोधन करके लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के इस तीसरे स्तर को ज़्यादा शक्तिशाली और प्रभावी बनाया गया।

- अब स्थानीय स्वशासी निकायों के चुनाव नियमित रूप से कराना संवैधानिक बाध्यता है।
- निर्वाचित स्वशासी निकायों के सदस्य तथा पदाधिकारियों के पदों में अनुसचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़ी जातियों के लिए सीटें आरक्षित हैं।
- कम से कम एक तिहाई पद महिलाओं के लिए आरक्षित हैं।
- हर राज्य में पंचायत और नगरपालिका चुनाव कराने के लिए राज्य चुनाव आयोग नामक स्वतंत्र संस्था का गठन किया गया है।
- राज्य सरकारों को अपने राजस्व और अधिकारों का कुछ हिस्सा इन स्थानीय स्वशासी निकायों को देना पड़ता है। सत्ता में भागीदारी की प्रकृति हर राज्य में अलग-अलग है।

गाँवों के स्तर पर मौजूद स्थानीय शासन व्यवस्था को पंचायती राज के नाम से जाना

जाता है। प्रत्येक गाँव में, (और कुछ राज्यों में ग्राम-समूह की) एक ग्राम पंचायत होती है। यह एक तरह की परिषद् है जिसमें कई सदस्य और एक अध्यक्ष होता है। सदस्य वार्डों से चुने जाते हैं और उन्हें सामान्यतया पंच कहा जाता है। अध्यक्ष को प्रधान या सरपंच कहा जाता है। इनका चुनाव गाँव अथवा वार्ड में रहने वाले सभी वयस्क लोग मतदान के जरिए करते हैं। यह पूरे पंचायत के लिए फ़ैसला लेने वाली संस्था है। पंचायतों का काम ग्राम-सभा की देखरेख में चलता है। गाँव के सभी मतदाता इसके सदस्य होते हैं। इसे ग्राम-पंचायत का बज़ट पास करने और इसके कामकाज की समीक्षा के लिए साल में कम से कम दो या तीन बार बैठक करनी होती है।

स्थानीय शासन का ढाँचा ज़िला स्तर तक का है। कई ग्राम पंचायतों को मिलाकर पंचायत समिति का गठन होता है। इसे मंडल या प्रखंड स्तरीय पंचायत भी कह सकते हैं। इसके सदस्यों का चुनाव उस इलाके के सभी पंचायत सदस्य करते हैं। किसी ज़िले की सभी पंचायत समितियों को मिलाकर ज़िला परिषद् का गठन होता है। ज़िला परिषद के अधिकांश सदस्यों का चुनाव होता है। ज़िला परिषद् में उस ज़िले से लोक सभा और विधान सभा के लिए चुने गए सांसद और विधायक तथा ज़िला स्तर की संस्थाओं के कुछ अधिकारी भी सदस्य के रूप में होते हैं। ज़िला परिषद् का प्रमुख इस परिषद् का राजनीतिक प्रधान होता है।

इस प्रकार स्थानीय शासन वाली संस्थाएँ शहरों में भी काम करती हैं। शहरों में नगर पालिका होती है। बड़े शहरों में नगरनिगम का गठन होता है। नगरपालिका और नगरनिगम, दोनों का कामकाज निर्वाचित प्रतिनिधि करते हैं। नगरपालिका प्रमुख नगरपालिका के राजनीतिक प्रधान होते हैं। नगरनिगम के ऐसे पदाधिकारी को मेयर कहते हैं।

स्थानीय सरकारों की यह नयी व्यवस्था दुनिया में लोकतंत्र का अब तक का सबसे

प्रधानमंत्री देश चलाता है। मुख्यमंत्री राज्यों को चलाते हैं। इसी तर्क से ज़िला परिषद् के प्रधान को ज़िले का शासन चलाना चाहिए। फिर, ज़िलों का शासन कलक्टर या ज़िलाधीश क्यों चलाते हैं?

Democracy for sale in TN, highest bidders get Panchayat posts

Women 'pradhans' bring winds of change

For Rs 250, justice in a village: Bill

States oppose direct funding of panchayats

Over 1m women elected to panchayats

भारत में हुए विकेंद्रीकरण के प्रयासों के बारे में अखबार की इन कतरनों में क्या कहा गया है?

ब्राजील का एक प्रयोग

ब्राजील के शहर पोर्तो एलग्रे ने विकेंद्रीकरण और नागरिकों की सक्रिय भागीदारी वाले लोकतंत्र के मेल का एक विलक्षण प्रयोग किया है। इस शहर के नगर-परिषद् के समांतर एक संगठन खड़ा किया गया और अपने शहर के बारे में वास्तविक फ़ैसले करने का अधिकार स्थानीय निवासियों को दिया गया है। इस शहर के करीब 13 लाख लोग अपने शहर का बज़ट तैयार करने में भागीदारी करते हैं। शहर को अनेक उप-क्षेत्रों में बाँटा गया है–लगभग वैसे ही जिन्हें हम वार्ड कहते हैं। हर उप-क्षेत्र की अपनी-अपनी बैठक होती है जिसका स्वरूप ग्राम सभा की तरह है और इसमें उस इलाके के सभी नागरिक भाग ले सकते हैं। फिर, कुछ बैठकें पूरे शहर को प्रभावित करने वाले मुद्दों पर होती हैं और उसमें शहर का कोई भी नागरिक भाग ले सकता है। इसमें शहर के बज़ट पर चर्चा होती है। इसके बाद इन प्रस्तावों को नगरपालिका के सामने पेश किया जाता है जो अंतिम फ़ैसला लेती है।

हर साल फ़ैसले लेने की इस प्रक्रिया में करीब 20,000 लोग हिस्सा लेते हैं। इस तरीके को अपनाने से यह सुनिश्चित हो गया है कि बज़ट को सिर्फ़ अमीर लोगों की बस्तियों में ही खर्च नहीं किया जाएगा। अब सभी गरीब बस्तियों तक बसें जाती हैं और पुनर्वास का इंतज़ाम किए बगैर भवन-निर्माता झुग्गी वालों को उजाड़ नहीं सकते।

अपने देश में भी केरल के कुछ इलाकों में ऐसे प्रयोग किए गए हैं। वहाँ आम लोगों ने अपनी बस्तियों के विकास की योजना तैयार करने में भागीदारी की।

बड़ा प्रयोग है। नगरपालिकाओं और ग्राम-पंचायतों के लिए करीब 36 लाख लोगों का चुनाव होता है। यह संख्या ही अपने आप में दुनिया के कई देशों की कुल आबादी से ज़्यादा है। स्थानीय सरकारों को संवैधानिक दर्जा दिए जाने से हमारे यहाँ लोकतंत्र की जड़ें और मज़बूत हुई हैं। इसने महिलाओं का प्रतिनिधित्व बढ़ाने के साथ ही हमारे लोकतंत्र में उनकी आवाज़ को मज़बूत किया है। बहरहाल, इन सबके बावजूद अभी भी अनेक परेशानियाँ कायम हैं। पंचायतों के चुनाव तो नियमित रूप से होते हैं और लोग बड़े उत्साह से इनमें हिस्सा भी लेते हैं लेकिन ग्राम सभाओं की बैठकें नियमित रूप से नहीं होतीं। अधिकांश राज्य सरकारों ने स्थानीय सरकारों को पर्याप्त अधिकार नहीं दिए हैं। इस प्रकार हम स्वशासन की आदर्श स्थिति से काफ़ी दूर हैं।

अपने गाँव या शहर की स्थानीय सरकार के बारे में पता करें।

अगर आप गाँव में रहते हैं तो निम्नलिखित के नाम पता करें : आपका पंच, आपका सरपंच, आपकी पंचायत समिति के सदस्य और ज़िला परिषद् के अध्यक्ष। यह भी पता करें कि ग्रामसभा की पिछली बैठक कब हुई थी और उसमें कितने लोगों ने भागीदारी की थी।

अगर आप शहर में रहते हैं तो निम्नलिखित के नाम पता करें : आपका कौंसलर, नगरनिगम या नगरपालिका प्रमुख; अपनी नगरपालिका अथवा नगरनिगम का बज़ट और खर्च के मुख्य मदों का पता लगाएँ।

1. भारत के खाली राजनीतिक नक्शे पर इन राज्यों की उपस्थिति दर्शाएँ : मणिपुर, सिक्किम, छत्तीसगढ़ और गोवा।

2. विश्व के खाली राजनीतिक मानचित्र पर भारत के अलावा संघीय शासन वाले तीन देशों की अवस्थिति बताएँ और उनके नक्शे को रंग से भरें।

3. भारत की संघीय व्यवस्था में बेल्जियम से मिलती-जुलती एक विशेषता और उससे अलग एक विशेषता को बताएँ।

4. शासन के संघीय और एकात्मक स्वरूपों में क्या-क्या मुख्य अंतर है? इसे उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट करें।

5. 1992 के संविधान संशोधन के पहले और बाद के स्थानीय शासन के दो महत्वपूर्ण अंतरों को बताएँ।

6. रिक्त स्थानों को भरें:

   चूँकि अमरीका ....तरह का संघ है इसलिए वहाँ सभी इकाइयों को समान अधिकार है। संघीय सरकार के मुकाबले प्रांत .... हैं। लेकिन भारत की संघीय प्रणाली .... की है और यहाँ कुछ राज्यों को औरों से ज़्यादा शक्तियाँ प्राप्त हैं।

7. भारत की भाषा नीति पर नीचे तीन प्रतिक्रियाएँ दी गई हैं। इनमें से आप जिसे ठीक समझते हैं उसके पक्ष में तर्क और उदाहरण दें।

   संगीता : प्रमुख भाषाओं को समाहित करने की नीति ने राष्ट्रीय एकता को मज़बूत किया है।

   अरमान : भाषा के आधार पर राज्यों के गठन ने हमें बाँट दिया है। हम इसी कारण अपनी भाषा के प्रति सचेत हो गए हैं।

   हरीश : इस नीति ने अन्य भाषाओं के ऊपर अँगरेजी के प्रभुत्व को मज़बूत करने भर का काम किया है।

8. संघीय सरकार की एक विशिष्टता है :

   (क) राष्ट्रीय सरकार अपने कुछ अधिकार प्रांतीय सरकारों को देती है।

   (ख) अधिकार विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच बँट जाते हैं।

   (ग) निर्वाचित पदाधिकारी ही सरकार में सर्वोच्च ताकत का उपयोग करते हैं।

   (घ) सरकार की शक्ति शासन के विभिन्न स्तरों के बीच बँट जाती है।

9. भारतीय संविधान की विभिन्न सूचियों में दर्ज कुछ विषय यहाँ दिए गए हैं। इन्हें नीचे दी गई तालिका में संघीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची वाले समूहों में लिखें।

   (क) रक्षा; (ख) पुलिस; (ग) कृषि; (घ) शिक्षा; (ङ) बैंकिंग (च) वन; (छ) संचार; (ज) व्यापार; (झ) विवाह।

संघीय सूची	
राज्य सूची	
समवर्ती सूची	

प्रश्नावली

प्रश्नावली

10. नीचे भारत में शासन के विभिन्न स्तरों और उनके कानून बनाने के अधिकार-क्षेत्र के जोड़े दिए गए हैं। इनमें से कौन सा जोड़ा सही मेल वाला नहीं है?

(क) राज्य सरकार	राज्य सूची
(ख) केंद्र सरकार	संघीय सूची
(ग) केंद्र और राज्य सरकार	समवर्ती सूची
(घ) स्थानीय सरकार	अवशिष्ट अधिकार

11. सूची I और सूची II में मेल ढूँढ़ें और नीचे दिए गए कोड के आधार पर सही उत्तर चुनें।

सूची I	**सूची II**
1. भारतीय संघ	(अ) प्रधानमंत्री
2. राज्य	(ब) सरपंच
3. नगर निगम	(स) राज्यपाल
4. ग्राम पंचायत	(द) मेयर

	1	2	3	4
(सा)	द	अ	ब	स
(रे)	ब	स	द	अ
(गा)	अ	स	द	ब
(मा)	स	द	अ	ब

12. इन बयानों पर गौर करें :

(अ) संघीय व्यवस्था में संघ और प्रांतीय सरकारों के अधिकार स्पष्ट रूप से तय होते हैं।

(ब) भारत एक संघ है क्योंकि केंद्र और राज्य सरकारों के अधिकार संविधान में स्पष्ट रूप से दर्ज हैं और अपने-अपने विषयों पर उनका स्पष्ट अधिकार है।

(स) श्रीलंका में संघीय व्यवस्था है क्योंकि उसे प्रांतों में बाँट दिया गया है।

(द) भारत में संघीय व्यवस्था नहीं रही क्योंकि राज्यों के कुछ अधिकार स्थानीय शासन की इकाइयों में बाँट दिए गए हैं।

ऊपर दिए गए बयानों में कौन-कौन सही हैं।

(सा) अ, ब और स (रे) अ, स और द (गा) अ और ब (मा) ब और स

लोकतंत्र और विविधता

परिचय

पिछले अध्याय में हमने देखा कि भाषायी और क्षेत्रीय विविधताओं को संग-साथ लेकर चलने के लिए सत्ता का बँटवारा किया जा सकता है। लेकिन, लोगों की विशिष्ट पहचान सिर्फ़ भाषा और क्षेत्र के आधार पर ही नहीं बनती। कई बार लोग अपनी पहचान और दूसरों से अपने संबंध शारीरिक बनावट, वर्ग, धर्म, लिंग, जाति, कबीले वगैरह के आधार पर भी परिभाषित करते हैं। इस अध्याय में हम देखेंगे कि किस तरह लोकतंत्र सारी सामाजिक विभिन्नताओं, अंतरों और असमानताओं के बीच सामंजस्य बैठाकर उनका सर्वमान्य समाधान देने की कोशिश करता है। यहाँ हम सामाजिक विभाजनों की सार्वजनिक अभिव्यक्ति के एक उदाहरण के जरिए अपनी बात स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे। इसके बाद हम यह चर्चा करेंगे कि सामाजिक विभिन्नता कैसे अलग-अलग रूप धारण करती है। फिर हम यह देखेंगे कि सामाजिक विभिन्नता और लोकतांत्रिक राजनीति किस तरह एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

अध्याय 3

कार्लोस और स्मिथ को मेरा सलाम! क्या मेरे अंदर ऐसा कर पाने का साहस कभी होगा?

मैक्सिको ओलंपिक की कहानी

इस पृष्ठ पर छपी तस्वीर अमरीका में चले नागरिक अधिकार आंदोलन की एक प्रमुख घटना से संबंधित है। यह 1968 में मैक्सिको सिटी में हुए ओलंपिक मुकाबलों की 200 मीटर दौड़ के पदक समारोह की तस्वीर है। अमरीका का राष्ट्रगान बज रहा है और सिर झुकाए तथा मुट्ठी ताने हुए जो दो खिलाड़ी खड़े हैं, वे हैं अमरीकी धावक टॉमी स्मिथ और जॉन कार्लोस। ये एफ्रो-अमरीकी हैं। इन्होंने क्रमशः स्वर्ण और कांस्य पदक जीता था। उन्होंने जूते नहीं पहने थे। सिर्फ़ मोज़े चढ़ाए पुरस्कार लेकर दोनों ने यह जताने की कोशिश की कि अमरीकी अश्वेत लोग गरीब हैं। स्मिथ ने अपने गले में एक काला मफ़लर जैसा परिधान भी पहना था जो अश्वेत लोगों के आत्मगौरव का प्रतीक है। कार्लोस ने मारे गए अश्वेत लोगों की याद में काले मनकों की एक माला पहनी थी। अपने इन प्रतीकों और तौर-तरीकों से उन्होंने अमरीका में होने वाले रंगभेद के प्रति अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी का ध्यान खींचने की कोशिश की। काले दस्ताने और बँधी हुई मुट्ठियाँ अश्वेत शक्ति का प्रतीक थीं। रजत पदक जीतने वाले आस्ट्रेलियाई धावक पीटर नार्मन ने पुरस्कार समारोह में अपनी जर्सी पर मानवाधिकार का बिल्ला लगाकर इन दोनों अमरीकी खिलाड़ियों के प्रति अपना समर्थन जताया।

क्या कार्लोस और स्मिथ द्वारा अमरीकी समाज के आंतरिक मामलों को अंतर्राष्ट्रीय मंच पर उठाना उचित था? क्या आप उनके काम को राजनीतिक मानेंगे? पीटर नार्मन, जो न तो अमरीकी थे, न अश्वेत, क्यों इस विरोध में शामिल हो गए? क्या आप उनकी जगह होते तो ऐसा ही करते?

अंतर्राष्ट्रीय ओलंपिक संघ ने कार्लोस और स्मिथ द्वारा राजनीतिक बयान देने की इस युक्ति को ओलंपिक भावना के विरुद्ध

विकीपीडिया और फोटो फ्लिकर डॉट कॉम केविन

2005 में सैन होज़ स्टेट यूनिवर्सिटी ने टॉमी स्मिथ और जॉन कार्लोस के विरोध प्रदर्शन के प्रतीक के रूप में एक 20 फीट ऊँची मूर्ति लगवाई। 1968 के पदक वितरण समारोह की असल तस्वीर भी ऊपर इंसेट में है।

एफ्रो-अमरीकी : एफ्रो-अमरीकन, अश्वेत अमरीकी या अश्वेत शब्द उन अफ्रीकी लोगों के वंशजों के लिए प्रयुक्त होता है जिन्हें 17वीं सदी से लेकर 19वीं सदी की शुरुआत तक अमरीका में गुलाम बनाकर लाया गया था।

अमरीका में नागरिक अधिकार आंदोलन (1954-1968): घटनाओं और सुधार आंदोलनों का एक सिलसिला जिसका उद्‌देश्य एफ्रो-अमरीकी लोगों के विरुद्ध होने वाले नस्ल आधारित भेदभाव को मिटाना था। मार्टिन लूथर किंग जूनियर की अगुवाई में लड़े गए इस आंदोलन का स्वरूप पूरी तरह अहिंसक था। इसने नस्ल के आधार पर भेदभाव करने वाले कानूनों और व्यवहार को समाप्त करने की माँग उठाई जो अंततः सफल हुई।

अश्वेत शक्ति आंदोलन : यह आंदोलन 1966 में उभरा और 1975 तक चलता रहा। नस्लवाद को लेकर इस आंदोलन का रवैया ज़्यादा उग्र था। इसका मानना था कि अमरीका से नस्लवाद मिटाने के लिए हिंसा का सहारा लेने में भी हर्ज़ नहीं है।

बताते हुए उन्हें दोषी करार दिया और उनके पदक वापस ले लिए गए। नार्मन को भी अपने फ़ैसले की कीमत चुकानी पड़ी और अगले ओलंपिक में उन्हें आस्ट्रेलिया की टीम में जगह नहीं दी गई पर इनके फ़ैसलों ने अमरीका में बढ़ते नागरिक अधिकार आंदोलन के प्रति दुनिया का ध्यान खींचने में सफलता पाई। हाल में ही सैन होज़ स्टेट यूनिवर्सिटी ने, जहाँ इन दोनों ने पढ़ाई की थी, इन दोनों का अभिनंदन किया और विश्वविद्यालय के भीतर उनकी मूर्ति लगवाई। जब 2006 में नार्मन की मौत हुई तो उनकी अरथी को कंधा देने वालों में स्मिथ और कार्लोस भी थे।

कुछ दलित समूहों ने 2001 में डरबन में हुए संयुक्त राष्ट्र के नस्लभेद विरोधी सम्मेलन में हिस्सा लेने का फ़ैसला किया और माँग की कि सम्मेलन की कार्यसूची में जातिभेद को भी रखा जाए। इस फ़ैसले पर ये तीन प्रतिक्रियाएँ सामने आईं :

अमनदीप कौर (सरकारी अधिकारी) : हमारे संविधान में जातिगत भेदभाव को गैर-कानूनी करार दिया गया है। अगर कहीं-कहीं जातिगत भेदभाव होता है तो यह हमारा आंतरिक मामला है और इसे प्रशासनिक अक्षमता के रूप में देखा जाना चाहिए। मैं इसे अंतर्राष्ट्रीय मंच पर उठाए जाने के खिलाफ़ हूँ।

ओइनम (समाजशास्त्री) : जाति और नस्ल एक जैसे सामाजिक विभाजन नहीं हैं इसलिए मैं इसके खिलाफ़ हूँ। जाति का आधार सामाजिक है जबकि नस्ल का आधार जीवशास्त्रीय होता है। नस्लवाद विरोधी सम्मेलन में जाति के मुद्दे को उठाना दोनों को समान मानने जैसा होगा।

अशोक (दलित कार्यकर्ता) : किसी मुद्दे को आंतरिक मामला कहना दमन और भेदभाव पर खुली चर्चा को रोकना है। नस्ल विशुद्ध रूप से जीवशास्त्रीय नहीं है, यह जाति की तरह ही काफ़ी हद तक समाजशास्त्रीय और वैधानिक वर्गीकरण है। इस सम्मेलन में जातिगत भेदभाव का मसला ज़रूर उठाना चाहिए।

इनमें से किस राय को आप सबसे सही मानते हैं? कारण बताइए।

मैं पाकिस्तानी लड़कियों की एक टोली से मिली और मुझे लगा कि अपने ही देश के दूसरे हिस्सों की लड़कियों की तुलना में वे मुझसे ज़्यादा समानता रखती हैं, क्या इसे राष्ट्र-विरोधी मेल कहा जाएगा?

समानताएँ, असमानताएँ और विभाजन

ऊपर दिए गए उदाहरण में खिलाड़ी सामाजिक बँटवारे और सामाजिक भेदभाव का अपने तरीके से विरोध कर रहे थे। पर क्या ऐसा भेदभाव सिर्फ़ नस्ल या रंग के आधार पर ही होता है? पिछले दो अध्यायों में हमने सामाजिक बँटवारे के कुछ अन्य स्वरूपों को देखा था। उदाहरण के लिए बेल्ज़ियम और श्रीलंका में यह विभाजन क्षेत्रीय और सामाजिक, दोनों स्तरों पर मौजूद था। बेल्ज़ियम में अलग-अलग इलाकों में रहने वाले लोग अलग-अलग भाषाएँ बोलते हैं। श्रीलंका में यह बँटवारा भाषा और क्षेत्र दोनों आधारों पर दिखाई देता है। इस प्रकार हर समाज में सामाजिक विविधता अलग-अलग रूप में सामने आती है।

सामाजिक भेदभाव की उत्पत्ति

सामाजिक विभाजन अधिकांशतः जन्म पर आधारित होता है। सामान्य तौर पर अपना समुदाय चुनना हमारे वश में नहीं होता। हम सिर्फ़ इस आधार पर किसी खास समुदाय के सदस्य हो जाते हैं कि हमारा जन्म उस समुदाय के एक परिवार में हुआ होता है। जन्म पर आधारित सामाजिक विभाजन का अनुभव हम अपने दैनिक जीवन में लगभग रोज़ करते हैं। हम अपने आस-पास देखते हैं कि चाहे कोई स्त्री हो या पुरुष, लंबा हो या छोटा-सबकी चमड़ी का रंग अलग-अलग है, उनकी शारीरिक क्षमताएँ या अक्षमताएँ अलग-अलग हैं। बहरहाल, सभी किस्म के सामाजिक विभाजन सिर्फ़ जन्म पर आधारित नहीं होते। कुछ चीज़ें हमारी पसंद या चुनाव के आधार पर भी तय होती हैं। कई लोग अपने माँ-बाप और परिवार से अलग अपनी पसंद का भी धर्म चुन लेते हैं। हम सभी लोग पढ़ाई के विषय, पेशे, खेल या सांस्कृतिक गतिविधियों का चुनाव अपनी पसंद से करते हैं। इन सबके आधार पर भी सामाजिक समूह बनते हैं और ये जन्म पर आधारित नहीं होते।

इस कार्टून से हर व्यक्ति अलग अर्थ निकाल सकता है। आपको इस कार्टून का क्या मतलब समझ में आता है? आपकी कक्षा के अन्य छात्र इससे क्या अर्थ निकालते हैं?

एस-केगल कार्टूस

हर सामाजिक विभिन्नता सामाजिक विभाजन का रूप नहीं लेती। सामाजिक विभिन्नताएँ लोगों के बीच बँटवारे का एक बड़ा कारण होती ज़रूर हैं लेकिन यही विभिन्नताएँ कई बार अलग-अलग तरह के लोगों के बीच पुल का काम भी करती हैं। विभिन्न सामाजिक समूहों के लोग अपने समूहों की सीमाओं से परे भी समानताओं और असमानताओं का अनुभव करते हैं। जो उदाहरण पहले दिया गया है उसमें कार्लोस और स्मिथ तो एक हिसाब से समान थे (दोनों एफ्रो अमरीकी थे) जबकि नार्मन श्वेत थे। पर इन तीनों में एक समानता थी कि वे सभी नस्ल आधारित भेदभाव के खिलाफ़ थे।

अक्सर यह देखा जाता है कि एक धर्म को मानने वाले लोग खुद को एक ही समुदाय का सदस्य नहीं मानते क्योंकि उनकी जाति या उनका पंथ अलग होता है। यह भी संभव है कि अलग-अलग धर्म के अनुयायी होकर भी एक जाति वाले लोग खुद को एक-दूसरे के ज़्यादा करीब महसूस करें। एक ही परिवार के अमीर और गरीब ज़्यादा घनिष्ठ संबंध नहीं रख पाते क्योंकि सभी अलग-अलग तरीके से सोचने लगते हैं। इस प्रकार हम सभी की एक से ज़्यादा पहचान होती है। इसी तरह लोग एक से ज़्यादा सामाजिक समूहों का हिस्सा हो सकते हैं। दरअसल हर संदर्भ में हमारी पहचान एक अलग रूप धारण करती है।

विभिन्नताओं में सामंजस्य और टकराव

सामाजिक विभाजन तब होता है जब कुछ सामाजिक अंतर दूसरी अनेक विभिन्नताओं से ऊपर और बड़े हो जाते हैं। अमरीका में श्वेत और अश्वेत का अंतर एक सामाजिक विभाजन भी बन जाता है क्योंकि अश्वेत लोग आमतौर पर गरीब हैं, बेघर हैं, भेदभाव का शिकार हैं। हमारे देश में भी दलित

आमतौर पर गरीब और भूमिहीन हैं। उन्हें भी अक्सर भेदभाव और अन्याय का शिकार होना पड़ता है। जब एक तरह का सामाजिक अंतर अन्य अंतरों से ज़्यादा महत्वपूर्ण बन जाता है और लोगों को यह महसूस होने लगता है कि वे दूसरे समुदाय के हैं तो इससे एक सामाजिक विभाजन की स्थिति पैदा होती है।

अगर एक-सी सामाजिक असमानताएँ कई समूहों में मौजूद हों तो फिर एक समूह के लोगों के लिए दूसरे समूहों से अलग पहचान बनाना मुश्किल हो जाता है। इसका मतलब यह है कि किसी एक मुद्दे पर कई समूहों के हित एक जैसे हो जाते हैं जबकि किसी दूसरे मुद्दे पर उनके नजरिए में अंतर हो सकता है। उत्तरी आयरलैंड और नीदरलैंड का उदाहरण लें। दोनों ही ईसाई बहुल देश हैं लेकिन यहाँ के लोग प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक खेमे में बँटे हैं। उत्तरी आयरलैंड में वर्ग और धर्म के बीच गहरी समानता है। वहाँ का कैथोलिक समुदाय गरीब है। लंबे समय से उसके साथ भेदभाव होता आया है। नीदरलैंड में वर्ग और धर्म के बीच ऐसा मेल दिखाई नहीं देता। वहाँ कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट, दोनों में अमीर और गरीब हैं। परिणाम यह है कि उत्तरी आयरलैंड में कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों के बीच भारी मारकाट चलती रही है पर नीदरलैंड में ऐसा नहीं होता। जब सामाजिक विभिन्नताएँ एक दूसरे से गुँथ जाती है तो एक गहरे सामाजिक विभाजन की जमीन तैयार होने लगती है। जहाँ ये सामाजिक विभिन्नताएँ एक साथ कई समूहों में विद्यमान होती हैं वहाँ उन्हें सँभालना अपेक्षाकृत आसान होता है।

आज अधिकतर समाजों में कई किस्म के विभाजन दिखाई देते हैं। देश बड़ा हो या छोटा इससे खास फर्क नहीं पड़ता। भारत काफ़ी बड़ा देश है और इसमें अनेक समुदायों के लोग रहते हैं। बेल्ज़ियम छोटा देश है पर वहाँ भी अनेक समुदायों के लोग हैं। जर्मनी और स्वीडन जैसे समरूप समाज में भी, जहाँ मोटे तौर पर अधिकतर लोग एक ही नस्ल और संस्कृति के हैं, दुनिया के दूसरे हिस्सों से पहुँचने वाले लोगों के कारण तेज़ी से बदलाव हो रहा है। ऐसे लोग अपने साथ अपनी संस्कृति लेकर पहुँचते हैं। उनमें अपना अलग समुदाय बनाने की प्रवृत्ति होती है। इस हिसाब से आज दुनिया के अधिकतर देश बहु-सांस्कृतिक हो गए हैं।

एक रोज़ किसी ने खोद निकाला बीसवीं सदी का एक शहर
और फिर लिखा अपना निष्कर्ष, कुछ इस तरह।
यहाँ है एक दिलचस्प अभिलेख :
'इस नल पर हर जाति और धर्म के लोगों को पानी पीने की अनुमति है।'
क्या मतलब होगा ऐसा लिखने का :
क्या यह समाज आपस में बँटा हुआ था?
क्या इस समाज में कुछ 'ऊँचे' थे और बाक़ी 'नीचे'?
ठीक है, फ़िर, इस शहर को दफ़न कर देना ही बेहतर!
क्यों कहा गया इसे फिर मशीन का युग?
यह तो ऐन बीसवीं सदी के बीच पाषाण-काल था।
– दया पवार

'माँ'
काली, काली पतली देह... वह माँ थी मेरी!
जंगल में गुम ठीक सुबह से जलावन के लिए!
हम सारे भाई साथ बैठे देखते थे उसकी राह,
और अगर वह जलावन न बेच पाती
तो भूखे सो जाते थे...
– वामन निंबालकर

दलित कवियों की इन दो कविताओं को पढ़ें : पोस्टर के ऊपर 'अप्रकट रंगभेद' क्यों लिखा गया है?

समरूप समाज : एक ऐसा समाज जिसमें सामुदायिक, सांस्कृतिक या जातीय विभिन्नताएँ ज़्यादा गहरी नहीं होतीं।

इमराना दसवीं कक्षा के सेक्शन 'ब' की छात्र है। वह बारहवीं कक्षा के छात्रों को विदाई पार्टी देने की तैयारी में अपनी कक्षा के अन्य छात्रों के साथ ग्यारहवीं कक्षा के छात्रों की मदद कर रही है। पिछले महीने उसने अपने सेक्शन की खो-खो टीम की तरफ़ से दसवीं कक्षा के सेक्शन 'अ' की टीम के खिलाफ़ मैच खेला था। वह बस से घर जाती है और उसी बस में यमुना पार से आने वाले और भी बच्चे होते हैं जो अलग-अलग कक्षाओं में पढ़ते हैं। इमराना उनसे भी हिली-मिली है। इमराना और उसकी बड़ी बहन नईमा की शिकायत है कि उन्हें तो माँ के साथ घर के काम में हाथ बँटाना पड़ता है जबकि उनका भाई कोई काम नहीं करता। इमराना के पिता उसकी बड़ी बहन के लिए एक लड़का ढूँढ़ रहे हैं। उनकी कोशिश है कि लड़का उन्हीं की हैसियत का हो।

क्या आप बता सकते हैं कि इमराना की पहचान किस आधार पर की जा सकती है –

घर में वह एक लड़की है

धर्म के हिसाब से वह .....

स्कूल में वह ......

...... वह ......

...... वह ......

सामाजिक विभाजनों की राजनीति

सामाजिक विभाजन राजनीति को किस प्रकार प्रभावित करते हैं? राजनीति का इन सामाजिक विभाजनों से क्या लेना-देना है? पहली नज़र में तो राजनीति और सामाजिक विभाजनों का मेल बहुत खतरनाक और विस्फोटक लगता है। लोकतंत्र में विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के बीच प्रतिद्वंद्विता का माहौल होता है। इस प्रतिद्वंद्विता के कारण कोई भी समाज फूट का शिकार बन सकता है। अगर राजनीतिक दल समाज में मौजूद विभाजनों के हिसाब से राजनीतिक होड़ करने लगे तो इससे सामाजिक विभाजन राजनीतिक विभाजन में बदल सकता है और ऐसे में देश विखंडन की तरफ़ जा सकता है। ऐसा कई देशों में हो चुका है।

परिणामों का दायरा

उत्तरी आयरलैंड का ही उदाहरण लें जिसका जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। ग्रेट ब्रिटेन का यह हिस्सा काफ़ी लंबे समय से हिंसा, जातीय कटुता और राजनीतिक टकराव की गिरफ़्त में रहा है। यहाँ की आबादी मुख्यतः ईसाई ही है पर वह इस धर्म के दो प्रमुख पंथों में बुरी तरह बँटी है। 53 फ़ीसदी आबादी प्रोटेस्टेंट है जबकि 44 फ़ीसदी रोमन कैथोलिक। कैथोलिकों का प्रतिनिधित्व नेशनलिस्ट पार्टियाँ करती हैं। उनकी माँग है कि उत्तरी आयरलैंड को आयरलैंड गणराज्य के साथ मिलाया जाए जो कि मुख्यतः कैथोलिक बहुल है। प्रोटेस्टेंट लोगों का प्रतिनिधित्व यूनियनिस्ट पार्टियाँ करती हैं जो ग्रेट ब्रिटेन के साथ ही रहने के पक्ष में हैं क्योंकि ब्रिटेन मुख्यतः प्रोटेस्टेंट देश है। यूनियनिस्टों और नेशनलिस्टों के बीच चलने वाले हिंसक टकराव में ब्रिटेन के सुरक्षा बलों सहित सैकड़ों लोग और सेना के जवान मारे जा चुके हैं। 1998 में ब्रिटेन की सरकार और नेशनलिस्टों के बीच शांति समझौता हुआ जिसमें दोनों पक्षों ने हिंसक आंदोलन बंद करने की बात स्वीकार की। यूगोस्लाविया में कहानी का ऐसा सुखद अंत नहीं हुआ। वहाँ धार्मिक और जातीय विभाजन के आधार पर शुरू हुई राजनीतिक होड़ में यूगोस्लाविया कई टुकड़ों में बँट गया।

ऐसे उदाहरणों के आधार पर कुछ लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि राजनीति और सामाजिक विभाजन का मेल नहीं होना चाहिए।

बुल्गारिया, रोमानिया या भारत?

गणेश विदेश घूमकर आया था और वह महाश्वेता को बता रहा था कि पूर्वी यूरोप के विभिन्न देशों में रहने वाले रोमानी लोगों का जीवन कैसा है। उसे योर्दान्का मिली थी जो बुल्गारिया में नर्स थी। रोमानी लोगों के बारे में उसने ये बातें कही थीं :

''नर्स होने के चलते आप किसी की तीमारदारी करने से मना तो नहीं कर सकते पर ये रोमानी लोग बहुत गंदे होते हैं। किसी के परिवार में किसी को ज़रा भी कुछ हो जाए तो पूरा परिवार और पड़ोसी उठकर हमारे अस्पताल आ जाते हैं और जब वे अस्पताल में होते हैं तो जुबान बंद रखना तो जानते ही नहीं। वे जोर-जोर से बोलते हैं, सिगरेट पीते हैं, चारों ओर राख और सिगरेट के टुकड़े फेंकते रहते हैं तथा दीवारों पर थूकते रहते हैं। धैर्य तो उनमें होता ही नहीं। वे हमारे डॉक्टरों को परेशान करते हैं और उनके साथ बदतमीजी करते हैं। दरअसल ये काली चमड़ी वाले लोग हमारी तरह होते ही नहीं। उनकी रंगों की पसंद भी बहुत अजीबोगरीब है। जरा उनकी पोशाक तो देखिए, आखिर वे देश के बाकी लोगों की तरह क्यों नहीं रहते? फिर हम सब जानते हैं कि वे चोर हैं। मैंने लोगों को यह कहते सुना है कि ये रोमानी लोग अपना खून बेचकर जीवन चलाते हैं। इसमें से कोई भी अस्पताल का खर्च नहीं उठा सकता। पर बीमार होने पर वे दौड़े-दौड़े अस्पताल पहुँच जाते हैं और नेक बुल्गारियाई करदाताओं के पैसों पर इलाज कराते हैं।''

''ये बातें कुछ सुनी-सुनी सी लगती हैं,'' महाश्वेता ने कहा।

गणेश ने फिर रोमानिया में रहने वाली रोमानी मोद्रुजेनी के बारे में बताया। जब वह 18 साल की थी तो उसने अस्पताल में अपने पहले बच्चे को जन्म दिया। उसके पास डॉक्टर या नर्स को देने के लिए एक भी पैसा नहीं था। वह अस्पताल में थी पर कोई भी उससे मिलने या उसकी देखभाल करने नहीं आया। आखिरकार वहाँ की सफ़ाई कर्मचारी ने, जो खुद भी रोमानी थी, उसकी मदद की और उसे बेटा हुआ। जब उसे बच्चा हो गया तो नर्स बच्चे को लेकर आई और बोली, ''लीजिए, एक अपराधी और पैदा हो गया!'' सरकारी अस्पतालों में रोमानी लोगों के साथ होने वाले व्यवहार के बारे में उसने बताया, ''डॉक्टर हमें अपने केबिन के सामने इंतज़ार कराते रहते हैं। एक बार एक डॉक्टर ने कहा कि अगर तुम्हें जाँच करानी है तो पहले नहाकर आओ। निश्चित रूप से मेरे शरीर से बदबू आ रही थी। गर्भावस्था के दौरान मैंने कूड़ेदान से खाना उठाकर खाया था क्योंकि मुझे हरदम भूख लगी रहती थी। मेरे पति ने मुझे छोड़ दिया था। मेरे दो बच्चे थे और तीसरा गर्भ में था। सामाजिक कार्यकर्त्ता ने मुझे खाना देने से मना कर दिया था। प्रसव के समय मेरे पड़ोसी ने ही मेरी मदद की। मुझे अक्सर लगता है कि इन अस्पतालों में न जाना ही अच्छा है।''

महाश्वेता ने गणेश की बातें सुनीं और कहा, ''गणेश इन चीज़ों को जानने के लिए दुनिया के दूसरे हिस्से तक जाने की ज़रूरत ही क्या थी ? यह रोमानिया और बुल्गारिया की ही कहानी नहीं है। यह तो खैर, रोमानी लोगों की दास्तान है लेकिन यही सब तो हमारे यहाँ भी होता है। हमारे यहाँ शासन द्वारा 'अपराधी' घोषित (जरायम पेशा) लोगों के साथ यही व्यवहार तो होता है।''

- क्या आपको महाश्वेता की बातें सही लगती हैं? क्या आप अपने इलाके के कुछ ऐसे समुदायों को जानते हैं जिनके साथ रोमानी लोगों जैसा बर्ताव होता है?
- क्या आपने कुछ लोगों को वैसी बातें कहते हुए सुना है जैसी योर्दान्का और मोद्रुजेनी कह रही थीं? अगर हाँ, तो ज़रा यह कल्पना करें कि अगर आपको ऐसी बातें उनसे सुनने को मिलतीं तो यह कहानी कैसी होगी?
- क्या बुल्गारिया की सरकार को यह प्रयास करना चाहिए कि रोमानी लोग भी बुल्गारिया के बाकी लोगों जैसी पोशाक पहनें और वैसा ही आचरण करें?

उनका मानना है कि सर्वश्रेष्ठ स्थिति तो यह है कि समाज में किसी किस्म का विभाजन ही न हो। अगर किसी देश में सामाजिक विभाजन है तो उसे राजनीति में अभिव्यक्त ही नहीं होने देना चाहिए।

पर इसके साथ यह भी सच्चाई है कि राजनीति में सामाजिक विभाजन की हर अभिव्यक्ति फूट पैदा नहीं करती। हमने पहले भी देखा है कि दुनिया के अधिकतर देशों में किसी न किसी किस्म का सामाजिक विभाजन है और ऐसे विभाजन राजनीतिक शक्ल भी अख्तियार करते ही हैं। लोकतंत्र में राजनीतिक दलों के लिए सामाजिक विभाजनों की बात करना तथा विभिन्न समूहों से अलग अलग वायदे करना बड़ी स्वाभाविक बात है, विभिन्न समुदायों को उचित प्रतिनिधित्व देने का प्रयास करना और विभिन्न समुदायों की उचित माँगों और ज़रूरतों को पूरा करने वाली नीतियाँ बनाना भी इसी कड़ी का हिस्सा है। अधिकतर देशों में मतदान के स्वरूप और सामाजिक विभाजनों के बीच एक प्रत्यक्ष संबंध दिखाई देता है। इसके तहत एक समुदाय के लोग आमतौर पर किसी एक दल को दूसरों के मुकाबले ज़्यादा पसंद करते हैं और उसी को वोट देते हैं। कई देशों में ऐसी पार्टियाँ हैं जो सिर्फ़ एक ही समुदाय पर ध्यान देती हैं और उसी के हित में राजनीति करती हैं। पर इस सबकी परिणति देश के विखंडन में नहीं होती।

ओरियन/जूस्का रैंटेनेन-फ्लिकर डॉट कॉम

उत्तरी आयरलैंड के कुछ स्थानों में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक लोगों के समुदाय दीवार के माध्यम से बँटे हैं। इन दीवारों पर अक्सर कुछ न कुछ लिखा हुआ देखने को मिल जाता है। इस तस्वीर में भी आप यह देख सकते हैं। आयरिश रिपब्लिकन आर्मी और ब्रिटेन की सरकार के बीच 2005 में एक समझौता हुआ था। यहाँ अंकित दीवार-लेखन सामाजिक तनाव के बारे में क्या कहता है?

तीन आयाम

सामाजिक विभाजनों की राजनीति का परिणाम तीन चीज़ों पर निर्भर करता है। पहली चीज है लोगों में अपनी पहचान के प्रति आग्रह की भावना। अगर लोग खुद को सबसे विशिष्ट और अलग मानने लगते हैं तो उनके लिए दूसरों के साथ तालमेल बैठाना बहुत मुश्किल हो जाता है। जब तक उत्तरी आयरलैंड के लोग खुद को सिर्फ़ प्रोटेस्टेंट या कैथोलिक के तौर पर देखते रहेंगे तब तक उनका शांत हो पाना संभव नहीं है। अगर लोग अपनी बहु-स्तरीय पहचान के प्रति सचेत हैं और उन्हें राष्ट्रीय पहचान का हिस्सा या सहयोगी मानते हैं तब कोई समस्या नहीं होती। जैसे, बेल्ज़ियम के अधिकतर लोग खुद को बेल्ज़ियाई ही मानते हैं भले ही वे डच या जर्मन बोलते हों। इस नज़रिए से उन्हें साथ-साथ रहने में मदद मिलती है। हमारे देश में भी ज़्यादातर लोग अपनी पहचान को लेकर ऐसा ही नज़रिया रखते हैं। वे खुद को पहले भारतीय मानते हैं फिर किसी प्रदेश, क्षेत्र, भाषा समूह या धार्मिक और सामाजिक समुदाय का सदस्य ।

दूसरी महत्वपूर्ण चीज़ है कि किसी समुदाय की माँगों को राजनीतिक दल कैसे उठा रहे हैं। संविधान के दायरे में आने वाली और दूसरे समुदाय को नुकसान न पहुँचाने वाली माँगों को मान लेना आसान है। श्रीलंका में 'श्रीलंका केवल सिंहलियों के लिए' की माँग तमिल समुदाय की पहचान और हितों के खिलाफ़ थी। यूगोस्लाविया में विभिन्न समुदायों के नेताओं ने अपने जातीय समूहों की तरफ़ से ऐसी माँगें रख दीं जिन्हें एक देश की सीमा के भीतर पूरा करना असंभव था।

तीसरी चीज़ है सरकार का रुख। सरकार इन माँगों पर क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करती है, यह भी महत्वपूर्ण है। जैसा कि हमने बेल्ज़ियम और श्रीलंका के उदाहरणों में देखा, अगर शासन सत्ता में साझेदारी करने को तैयार हो और अल्पसंख्यक समुदाय की उचित माँगों को पूरा करने का प्रयास ईमानदारी से किया जाए तो सामाजिक विभाजन मुल्क के लिए खतरा नहीं बनते। अगर शासन राष्ट्रीय एकता के नाम पर किसी ऐसी माँग को दबाना शुरू कर देता है तो अक्सर उलटे और नुकसानदेह परिणाम ही निकलते हैं। ताकत के दम पर एकता बनाए रखने की कोशिश अक्सर विभाजन की ओर ले जाती है।

इस तरह किसी देश में सामाजिक विभिन्नताओं पर ज़ोर देने की बात को हमेशा खतरा मानकर नहीं चलना चाहिए। लोकतंत्र में सामाजिक विभाजन की राजनीतिक अभिव्यक्ति एक सामान्य बात है और यह एक स्वस्थ राजनीति का लक्षण भी हो सकता है। इसी से विभिन्न छोटे सामाजिक समूह, हाशिये पर पड़ी ज़रूरतों और परेशानियों को जाहिर करते हैं और सरकार का ध्यान अपनी तरफ़ खींचते हैं। राजनीति में विभिन्न तरह के सामाजिक विभाजनों की अभिव्यक्ति ऐसे विभाजनों के बीच संतुलन पैदा करने का काम भी करती हैं। इसके चलते कोई भी सामाजिक विभाजन एक हद से ज़्यादा उग्र नहीं हो पाता। इस स्थिति में लोकतंत्र मज़बूत ही होता है।

पर विभिन्नता के प्रति सकारात्मक नज़रिया रखना और सभी चीज़ों को समाहित करने की इच्छा रखना इतना आसान मामला नहीं है। जो लोग खुद को वंचित, उपेक्षित और भेदभाव का शिकार मानते हैं उन्हें अन्याय से संघर्ष भी करना होता है। ऐसी लड़ाई अक्सर लोकतांत्रिक रास्ता ही अख्तियार करती है। लोग शांतिपूर्ण और संवैधानिक तरीके से अपनी माँगों को उठाते हैं और चुनावों के माध्यम से उसके लिए दबाव बनाते हैं, उसका समाधान पाने का प्रयास करते हैं। कई बार सामाजिक असमानताएँ इतनी ज़्यादा गैर-बराबरी और अन्याय वाली होती हैं कि उनको स्वीकार करना असंभव है। ऐसी गैर-बराबरी और अन्याय के खिलाफ़ होने वाला संघर्ष कई बार हिंसा का रास्ता भी अपना लेता है और शासन के खिलाफ़ उठ खड़ा होता है। इतिहास बताता है कि ऐसी तमाम गड़बड़ियों की पहचान करने और विविधता को समाहित करने का लोकतंत्र ही सबसे अच्छा तरीका है।

ज़ैरो कैसिलेज़ो-केगल कार्टून्स

जीवन के विभिन्न पहलुओं में दिखने वाले सामाजिक विभाजन से जुड़ी तस्वीरें जमा करें या बनाएँ। क्या आप खेल के मामले में सामाजिक विभाजन या भेदभाव के कुछ उदाहरण सोच सकते हैं?

...तो आपके कहने का मतलब है कि एक बड़े विभाजन की जगह अनेक छोटे विभाजन लाभकर होते हैं? और, आपके कहने का यह भी मतलब है कि राजनीति एकता पैदा करने वाली शक्ति है?

प्रश्नावली

1. सामाजिक विभाजनों की राजनीति के परिणाम तय करने वाले तीन कारकों की चर्चा करें।
2. सामाजिक अंतर कब और कैसे सामाजिक विभाजनों का रूप ले लेते हैं?
3. सामाजिक विभाजन किस तरह से राजनीति को प्रभावित करते हैं? दो उदाहरण भी दीजिए।
4. .... सामाजिक अंतर गहरे सामाजिक विभाजन और तनावों की स्थिति पैदा करते हैं। .... सामाजिक अंतर सामान्य तौर पर टकराव की स्थिति तक नहीं जाते।

5. सामाजिक विभाजनों को सँभालने के संदर्भ में इनमें से कौन सा बयान लोकतांत्रिक व्यवस्था पर लागू नहीं होता?

   (क) लोकतंत्र में राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता के चलते सामाजिक विभाजनों की छाया राजनीति पर भी पड़ती है।

   (ख) लोकतंत्र में विभिन्न समुदायों के लिए शांतिपूर्ण ढंग से अपनी शिकायतें ज़ाहिर करना संभव है।

   (ग) लोकतंत्र सामाजिक विभाजनों को हल करने का सबसे अच्छा तरीका है।

   (घ) लोकतंत्र सामाजिक विभाजनों के आधार पर समाज को विखंडन की ओर ले जाता है।

6. निम्नलिखित तीन बयानों पर विचार करें :

   (अ) जहाँ सामाजिक अंतर एक-दूसरे से टकराते हैं वहाँ सामाजिक विभाजन होता है।

   (ब) यह संभव है कि एक व्यक्ति की कई पहचान हो।

   (स) सिर्फ़ भारत जैसे बड़े देशों में ही सामाजिक विभाजन होते हैं।

   इन बयानों में से कौन-कौन से बयान सही हैं।

   (क) अ, ब और स (ख) अ और ब (ग) ब और स (घ) सिर्फ स

7. निम्नलिखित बयानों को तार्किक क्रम से लगाएँ और नीचे दिए गए कोड के आधार पर सही जवाब ढूँढ़ें।

   (अ) सामाजिक विभाजन की सारी राजनीतिक अभिव्यक्तियाँ खतरनाक ही हों यह ज़रूरी नहीं है।

   (ब) हर देश में किसी न किसी तरह के सामाजिक विभाजन रहते ही हैं।

   (स) राजनीतिक दल सामाजिक विभाजनों के आधार पर राजनीतिक समर्थन जुटाने का प्रयास करते हैं।

   (द) कुछ सामाजिक अंतर सामाजिक विभाजनों का रूप ले सकते हैं।

   (क) द, ब, स, अ (ख) द, ब, अ, स (ग) द, अ, स, ब (घ) अ, ब, स, द

8. निम्नलिखित में किस देश को धार्मिक और जातीय पहचान के आधार विखंडन का सामना करना पड़ा?

   (क) बेल्जियम (ख) भारत (ग) यूगोस्लाविया (घ) नीदरलैंड

9. मार्टिन लूथर किंग जूनियर के 1963 के प्रसिद्ध भाषण के निम्नलिखित अंश को पढ़ें। वे किस सामाजिक विभाजन की बात कर रहे हैं? उनकी उम्मीदें और आशंकाएँ क्या-क्या थीं? क्या आप उनके बयान और मैक्सिको ओलंपिक की उस घटना में कोई संबंध देखते हैं जिसका जिक्र इस अध्याय में था?

   "मेरा एक सपना है कि मेरे चार नन्हें बच्चे एक दिन ऐसे मुल्क में रहेंगे जहाँ उन्हें चमड़ी के रंग के आधार पर नहीं, बल्कि उनके चरित्र के असल गुणों के आधार पर परखा जाएगा। स्वतंत्रता को उसके असली रूप में आने दीजिए। स्वतंत्रता तभी कैद से बाहर आ पाएगी जब यह हर बस्ती, हर गाँव तक पहुँचेगी, हर राज्य और हर शहर में होगी और हम उस दिन को ला पाएँगे जब ईश्वर की सारी संतानें–अश्वेत स्त्री-पुरुष, गोरे लोग, यहूदी तथा गैर-यहूदी, प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक–हाथ में हाथ डालेंगी और इस पुरानी नीग्रो प्रार्थना को गाएँगी - 'मिली आज़ादी, मिली आज़ादी! प्रभु बलिहारी, मिली आज़ादी!' मेरा एक सपना है कि एक दिन यह देश उठ खड़ा होगा और अपने वास्तविक स्वभाव के अनुरूप कहेगा, "हम इस स्पष्ट सत्य को मानते हैं कि सभी लोग समान हैं।"

प्रश्नावली

जाति, धर्म और लैंगिक मसले

परिचय

पिछले अध्याय में हमने जाना कि सामाजिक विविधता लोकतंत्र के लिए कोई खतरा नहीं होती। राजनीति में सामाजिक असमानताओं की अभिव्यक्ति कोई असंभव बात नहीं है। कई बार तो यह अभिव्यक्ति लोकतंत्र के लिए लाभकर भी होती है। इस अध्याय में हम इस विचार को भारत में लोकतंत्र के कामकाज के संदर्भ में परखने की कोशिश करेंगे। हम यहाँ सामाजिक विभाजन और भेदभाव वाली तीन सामाजिक असमानताओं पर गौर करेंगे। ये हैं लिंग, धर्म और जाति पर आधारित सामाजिक विषमताएँ। ये असमानताएँ कैसी हैं और किस तरह राजनीति में अभिव्यक्त होती हैं, हम इस पर बारी-बारी से गौर करेंगे। फिर, हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि इन असमानताओं पर आधारित अलग-अलग अभिव्यक्तियाँ लोकतंत्र के लिए लाभकर हैं या नुकसानदेह।

अध्याय 4

लैंगिक मसले और राजनीति

स्त्री-शक्ति का उद्‌घोष करता बंगाल का एक पोस्टर

बात बोले भेद खोले

श्रम का लैंगिक विभाजन : काम के बँटवारे का वह तरीका जिसमें घर के अंदर के सारे काम परिवार की औरतें करती हैं या अपनी देखरेख में घरेलू नौकरों/नौकरानियों से कराती हैं।

आइए, अपनी बात की शुरुआत हम लैंगिक असमानता से करें। सामाजिक असमानता का यह रूप हर जगह नज़र आता है लेकिन राजनीति के अध्ययन में शायद ही इस बात की पहचान की जाती है। लैंगिक असमानता को स्वाभाविक या कहें कि प्राकृतिक और अपरिवर्तनीय मान लिया जाता है। लेकिन, लैंगिक असमानता का आधार स्त्री और पुरुष की जैविक बनावट नहीं बल्कि इन दोनों के बारे में प्रचलित रूढ़ छवियाँ और तयशुदा सामाजिक भूमिकाएँ हैं।

निजी और सार्वजनिक का विभाजन

लड़के और लड़कियों के पालन-पोषण के क्रम में यह मान्यता उनके मन में बैठा दी जाती है कि औरतों की मुख्य जिम्मेवारी गृहस्थी चलाने और बच्चों का पालन-पोषण करने की है। यह चीज अधिकतर परिवारों के श्रम के लैंगिक विभाजन से झलकती है। औरतें घर के अंदर का सारा काम काज, जैसे- खाना बनाना, सफ़ाई करना, कपड़े धोना और बच्चों की देखरेख करना आदि करती हैं जबकि मर्द घर के बाहर का काम करते हैं। ऐसा नहीं है कि मर्द ये सारे काम नहीं कर सकते। दरअसल वे सोचते हैं कि ऐसे कामों को करना औरतों के ज़िम्मे है। पर जब सिलाई-कटाई से लेकर इन्हीं सारे कामों के लिए पैसे मिलते हैं तो मर्द खुशी-खुशी यही काम घर के बाहर करते हैं। अधिकांश दर्जी या होटल के रसोइए पुरुष होते हैं। इसी प्रकार औरतें घर के बाहर का काम न करती हों- ऐसा भी नहीं है। गाँवों में स्त्रियाँ पानी और जलावन जुटाने से लेकर खेत में खटने तक का काम करती हैं। शहरों में भी हम देखते हैं कि कोई गरीब स्त्री किसी मध्यमवर्गीय परिवार में नौकरानी का काम कर रही है और मध्यमवर्गीय स्त्री काम करने के लिए दफ़्तर जा रही है। सच्चाई यह है कि अधिकतर महिलाएँ अपने घरेलू काम के अतिरिक्त अपनी आमदनी के लिए कुछ न कुछ काम करती हैं लेकिन उनके काम को ज़्यादा मूल्यवान नहीं माना जाता और उन्हें दिन रात काम करके भी उसका श्रेय नहीं मिलता।

श्रम के इस तरह के विभाजन का नतीजा यह हुआ है कि औरत तो घर की चारदीवारी में सिमट के रह गई है और बाहर का सार्वजनिक जीवन पुरुषों के कब्ज़े में आ गया है। मनुष्य जाति की आबादी में औरतों का

हिस्सा आधा है पर सार्वजनिक जीवन में, खासकर राजनीति में उनकी भूमिका नगण्य ही है। यह बात अधिकतर समाजों पर लागू होती है। पहले सिर्फ़ पुरुषों को ही सार्वजनिक मामलों में भागीदारी करने, वोट देने या सार्वजनिक पदों के लिए चुनाव लड़ने की अनुमति थी। धीरे-धीरे राजनीति में लैंगिक मुद्दे उभरे। दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में औरतों ने अपने संगठन बनाए और बराबरी के अधिकार हासिल करने के लिए आंदोलन किए। विभिन्न देशों में महिलाओं को वोट का अधिकार प्रदान करने के लिए आंदोलन हुए। इन आंदोलनों में महिलाओं के राजनीतिक और वैधानिक दर्जे को ऊँचा उठाने और

ज़ुबान

अपने समाज में आदर्श स्त्री के बारे में प्रचलित इन सारी धारणाओं पर चर्चा करें। क्या आप इन सबसे सहमत हैं? अगर नहीं तो तो बताइए कि आदर्श स्त्री के बारे में आपकी धारणा क्या है?

उनके लिए शिक्षा तथा रोजगार के अवसर बढ़ाने की माँग की गई मूलगामी बदलाव की माँग करने वाले महिला आंदोलनों ने औरतों के व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में भी बराबरी की माँग उठाई। इन आंदोलनों को नारीवादी आंदोलन कहा जाता है।

लैंगिक विभाजन की राजनीतिक अभिव्यक्ति और इस सवाल पर राजनीतिक गोलबंदी ने सार्वजनिक जीवन में औरत की भूमिका को बढ़ाने में मदद की। आज हम वैज्ञानिक, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रबंधक, कॉलेज और विश्वविद्यालयी शिक्षक जैसे पेशों में बहुत-सी औरतों को पाते हैं जबकि पहले इन कामों को महिलाओं के लायक नहीं माना जाता था। दुनिया के कुछ हिस्सों, जैसे स्वीडन, नार्वे और फिनलैंड जैसे स्कैंडिनेवियाई देशों में सार्वजनिक जीवन में महिलाओं की भागीदारी का स्तर काफ़ी ऊँचा है।

देश के छह राज्यों में 'समय का उपयोग' संबंधी सर्वेक्षण किया गया। इससे पता चलता है कि एक औरत औसतन रोज़ाना साढ़े सात घंटे से ज़्यादा काम करती है जबकि एक मर्द औसतन रोज़ साढ़े छह घंटे ही काम करता है। फिर भी पुरुषों द्वारा किया गया काम ही ज़्यादा दीख पड़ता है क्योंकि उससे आमदनी होती है। औरतें भी ढेर सारे ऐसे काम करती हैं जिनसे अप्रत्यक्ष रूप से आमदनी होती है लेकिन उनका ज़्यादातर काम घर की चारदीवारी के अंदर होता है। इसके लिए उन्हें पैसे नहीं मिलते इसलिए औरतों का काम दिखाई नहीं देता।

समय का उपयोग (दैनिक-घंटे और मिनट में)

गतिविधियाँ	पुरुष	महिला
आमदनी वाले काम	6:00	2:40
घर के काम	0.30	5:00
गप्पबाजी	1.25	1:20
बिना काम के/फुरसत	3:40	3:50
सोना, अपने शरीर की साफ़-सफ़ाई, पढ़ना वगैरह	12.25	11:10

स्रोत : भारत सरकार, *समय का उपयोग* सर्वेक्षण,1998-99

आप अपने परिवार में भी 'समय का उपयोग' वाला सर्वेक्षण कर सकते हैं। अपने परिवार के सभी वयस्क पुरुषों और महिलाओं के काम पर एक हफ़्ते तक गौर करें और यह दर्ज करते चलें कि निम्नलिखित कामों पर हर आदमी कितना समय देता है : आमदनी वाले काम [दफ़्तर, दुकान या कारखाना अथवा खेत वगैरह में काम], घरेलू काम [खाना बनाना, झाड़ू-पोंछा-बरतन धोना, कपड़े धोना, पानी लाना, बच्चों और बूढ़ों की देखरेख करना वगैरह], पढ़ना और मनोरंजन, गप-शप करना, अपने शरीर की साफ़-सफ़ाई, आराम करना या सोना। ज़रूरी लगे तो आप नयी श्रेणी भी बना सकते हैं। इसमें से हर काम में जो समय लगता है उसका हफ़्ते भर का हिसाब जोड़ लें और फिर उसे सात से भाग देकर प्रत्येक सदस्य का रोज़ का औसत समय निकालें। क्या आपके परिवार में भी महिलाएँ पुरुषों से ज़्यादा काम करती हैं?

नारीवादी : औरत और मर्द के समान अधिकारों और अवसरों में विश्वास करने वाली महिला या पुरुष।

हमारे देश में आज़ादी के बाद से महिलाओं की स्थिति में कुछ सुधार हुआ है पर वे अभी भी पुरुषों से काफी पीछे हैं। हमारा समाज अभी भी पितृ-प्रधान है। औरतों के साथ अभी भी कई तरह के भेदभाव होते हैं, उनका दमन होता है–

- महिलाओं में साक्षरता की दर अब भी मात्र 54 फीसदी है जबकि पुरुषों में 76 फीसदी। इसी प्रकार स्कूल पास करने वाली लड़कियों की एक सीमित संख्या ही उच्च शिक्षा की ओर कदम बढ़ा पाती हैं। जब हम स्कूली परीक्षाओं के परिणाम पर गौर करते हैं तो देखते हैं कि कई जगह लड़कियों ने बाजी मार ली है और कई जगहों पर उनका प्रदर्शन लड़कों से बेहतर नहीं तो कमतर भी नहीं है। लेकिन आगे की पढ़ाई के दरवाज़े उनके लिए बंद हो जाते हैं क्योंकि माँ बाप अपने संसाधनों को लड़के-लड़की दोनों पर बराबर खर्च करने की जगह लड़कों पर ज़्यादा खर्च करना पसंद करते हैं।
- इस स्थिति के चलते अब भी ऊँची तनख्वाह वाले और ऊँचे पदों पर पहुँचने वाली महिलाओं की संख्या बहुत ही कम है। भारत में औसतन एक स्त्री एक पुरुष

मम्मी हरदम बाहर वालों से कहती है : "मैं काम नहीं करती। मैं तो हाउसवाइफ हूँ।" पर मैं देखती हूँ कि वह लगातार काम करते रहती है। अगर वह जो करती है उसे काम नहीं कहते तो फिर काम किसे कहते हैं?

क्या आप इस मानचित्र में अपने ज़िले को पहचान सकते हैं? इस ज़िले में स्त्री-पुरुष का अनुपात कितना है? आप इस अनुपात को अलग रंगों में अंकित जिलों से कितना कम या ज़्यादा पाते हैं?

उन प्रांतों की पहचान करें जहाँ बाल लिंग-अनुपात 850 से कम है।

अगले पृष्ठ पर दिए गए पोस्टर से इस नक्शे की तुलना करें। ये दोनों किस तरह हमें एक ही मुद्दे के बारे में अलग-अलग ढंग से बताते हैं?

सन् 2001 में चार राज्य ऐसे थे जहाँ प्रति हज़ार पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या 800 से भी कम थी। पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश और गुजरात जैसे राज्यों में स्थिति बड़ी गंभीर है। इन राज्यों में बाल लिंग-अनुपात तेज़ी से घटा है। इन राज्यों में प्रति हज़ार बालकों पर बालिकाओं की संख्या 800 से भी कम थी। प्रति हज़ार लड़कों पर 950 से अधिक लड़कियों की संख्या वाले ज़िलों की संख्या 1991 के मुकाबले सन् 2001 में और कम हो गई

पितृ-प्रधान: इसका शाब्दिक अर्थ तो पिता का शासन है पर इस पद का प्रयोग महिलाओं की तुलना में पुरुषों को ज़्यादा महत्व, ज़्यादा शक्ति देने वाली व्यवस्था के लिए भी किया जाता है।

ऑक्सफेम जी.बी.
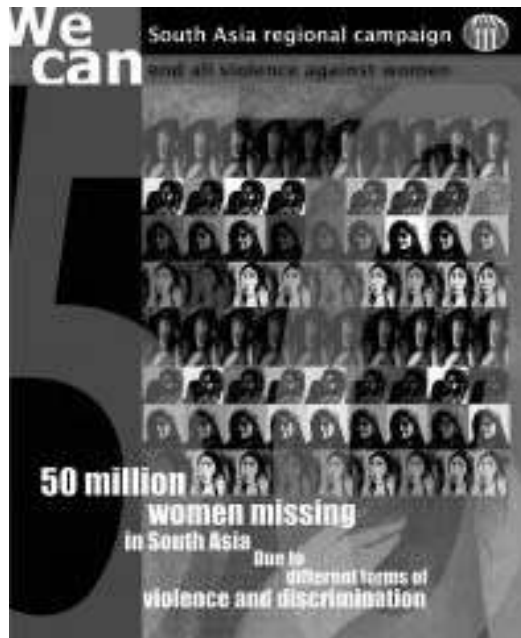
की तुलना में रोज़ाना एक घंटा ज़्यादा काम करती है पर उसको ज़्यादातर काम के लिए पैसे नहीं मिलते इसलिए अक्सर उसके काम को मूल्यवान नहीं माना जाता।

- समान मज़दूरी से संबंधित अधिनियम में कहा गया है कि समान काम के लिए समान मजदूरी दी जाएगी। बहरहाल, काम के हर क्षेत्र में यानी खेल-कूद की दुनिया से लेकर सिनेमा के संसार तक और कल-कारखानों से लेकर खेत-खलिहान तक महिलाओं को पुरुषों की तुलना में कम मज़दूरी मिलती है, भले ही दोनों ने समान काम किया हो।
- भारत के अनेक हिस्सों में माँ-बाप को सिर्फ़ लड़के की चाह होती है। लड़की को जन्म लेने से पहले ही खत्म कर देने के तरीके इसी मानसिकता से पनपते हैं। इससे देश का लिंग अनुपात [प्रति हज़ार लड़कों पर लड़कियों की संख्या] गिरकर 933 रह गया है। साथ लगा नक्शा बताता है कि कई जगहों पर यह अनुपात गिरकर 850 और कहीं-कहीं तो 800 से भी नीचे चला गया है।

महिलाओं के उत्पीड़न, शोषण और उन पर होने वाली हिंसा की खबरें हमें रोज़ पढ़ने को मिलती हैं। शहरी इलाके तो महिलाओं के लिए खास तौर से असुरक्षित हैं। वे अपने घरों में भी सुरक्षित नहीं हैं क्योंकि वहाँ भी उन्हें मारपीट तथा अनेक तरह की घरेलू हिंसा झेलनी पड़ती है।
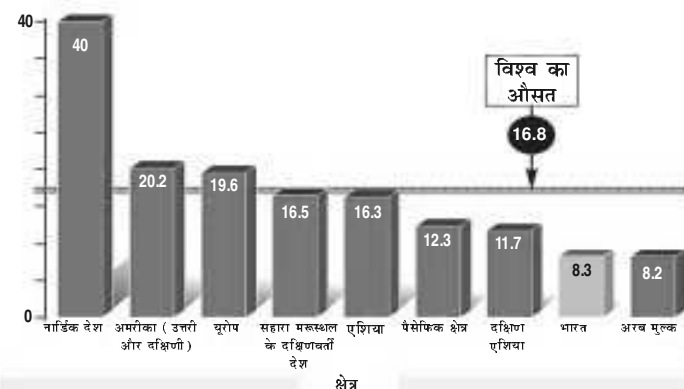
भारत में महिलाओं का प्रतिनिधित्व बहुत कम है। क्या आप इसके कुछ कारण बता सकते हैं? क्या आप मानते हैं कि अमरीका और यूरोप में महिलाओं का प्रतिनिधित्व इस स्तर तक पहुँच गया है कि उसे संतोषजनक कहा जा सके?

महिलाओं का राजनीतिक प्रतिनिधित्व

ये कोई छुपी हुई बात नहीं है कि औरतों की भलाई या उनके साथ समान व्यवहार वाले मुद्दों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। इसी के चलते विभिन्न नारीवादी समूह और महिला आंदोलन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जब तक औरतों का सत्ता पर नियंत्रण नहीं होगा तब तक इस समस्या का निपटारा नहीं हो सकता। इस लक्ष्य को हासिल करने का एक तरीका यह है कि जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों में महिलाओं की हिस्सेदारी बढ़ाई जाए।

भारत की विधायिका में महिला प्रतिनिधियों का अनुपात बहुत ही कम है। जैसे, लोकसभा में महिला सांसदों की संख्या कभी कुल सदस्यों की दस फीसदी तक भी नहीं पहुँची है। राज्यों की विधान सभाओं में उनका प्रतिनिधित्व 5 फीसदी से भी कम है। इस मामले में भारत का नंबर दुनिया के देशों में काफ़ी नीचे है [देखें पृष्ठ-44 का बॉक्स]। भारत इस मामले में अफ्रीका और लातिन अमरीका के कई विकासशील देशों से भी पीछे है। कभी-कभार कोई महिला प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री की कुर्सी तक आ गई है पर मंत्रिमंडलों में पुरुषों का ही वर्चस्व रहा है।

इस समस्या को सुलझाने का एक तरीका तो निर्वाचित संस्थाओं में महिलाओं के लिए कानूनी रूप से एक उचित हिस्सा तय कर देना है। भारत में पंचायती राज के अंतर्गत कुछ ऐसी ही व्यवस्था की गई है। स्थानीय सरकारों यानी पंचायतों और नगरपालिकाओं में एक तिहाई पद महिलाओं के लिए आरक्षित कर दिए गए हैं। आज भारत के ग्रामीण और शहरी स्थानीय निकायों में निर्वाचित महिलाओं की संख्या 10 लाख से ज़्यादा है।

महिला संगठनों और कार्यकर्त्ताओं की माँग है कि लोक सभा और राज्य विधान सभाओं की भी एक तिहाई सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित कर देनी चाहिए। संसद में इस आशय का एक विधेयक पेश भी किया गया था पर दस वर्षों से ज़्यादा अवधि से वह लटका पड़ा है। सभी राजनीतिक पार्टियाँ इस विधेयक को लेकर एकमत नहीं हैं और यह पास नहीं हो सका है।

लैंगिक विभाजन इस बात की एक मिसाल है कि कुछ खास किस्म के सामाजिक विभाजनों को राजनीतिक रूप देने की ज़रूरत है। इससे यह भी पता चलता है कि जब सामाजिक विभाजन एक राजनीतिक मुद्दा बन जाता है तो वंचित समूहों को किस तरह लाभ होता है। क्या आपको लगता है कि अगर महिलाओं से भेदभाव भरे व्यवहार का मसला राजनीतिक तौर पर न उठता तो उनको लाभ मिल पाना संभव था?

अगर जातिवाद और संप्रदायवाद खराब चीज है तो नारीवाद क्यों अच्छा हैं? हम समाज को जाति, धर्म या लिंग के आधार पर बाँटने वाली हर बात का विरोध क्यों नहीं करते?

यह कार्टून बताता है कि महिला आरक्षण विधेयक संसद में पास क्यों नहीं हो पाया। क्या आप इस नज़रिए से सहमत हैं?

धर्म, सांप्रदायिकता और राजनीति

पारिवारिक कानून : विवाह, तलाक, गोद लेना और उत्तराधिकार जैसे परिवार से जुड़े मसलों से संबंधित कानून। हमारे देश में सभी धर्मों के लिए अलग-अलग पारिवारिक कानून है।

आइए, अब एकदम अलग किस्म के सामाजिक विभाजन की चर्चा करें यानी धार्मिक अंतरों पर आधारित विभाजन की। यह विभाजन लैंगिक विभाजन जैसा सार्वभौम तो नहीं है पर विश्व में धार्मिक विभिन्नता आज बड़ी व्यापक हो चली है। भारत समेत अनेक देशों में अलग-अलग धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं पर, जैसा कि हमने उत्तरी आयरलैंड के मामले में देखा, अगर लोग एक धर्म को मानें लेकिन उनकी पूजा-पद्धति और मान्यताएँ अलग-अलग हों तब भी गंभीर मतभेद पैदा हो जाते हैं। लैंगिक विभाजन के विपरीत धार्मिक विभाजन अक्सर राजनीति के मैदान में अभिव्यक्त होता है।
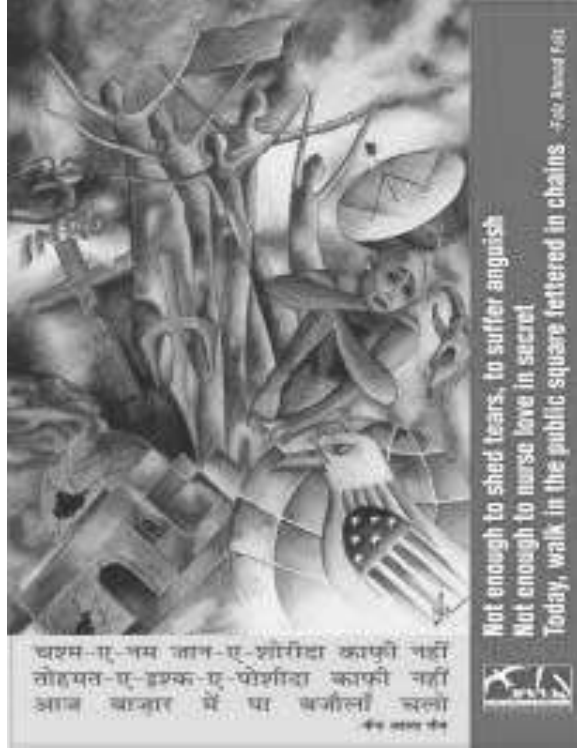
मैं धार्मिक नहीं हूँ, मुझे सांप्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता की परवाह क्यों करनी चाहिए?

ज़रा इन बातों पर गौर करें :

- गांधी जी कहा करते थे कि धर्म को कभी भी राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। धर्म से उनका मतलब हिंदू या इस्लाम जैसे धर्म से न होकर नैतिक मूल्यों से था जो सभी धर्मों से जुड़े हैं। उनका मानना था कि राजनीति धर्म द्वारा स्थापित मूल्यों से निर्देशित होनी चाहिए।
- अपने देश के मानवाधिकार समूहों का कहना है कि इस देश में सांप्रदायिक दंगों में मरने वाले ज़्यादातर लोग अल्पसंख्यक समुदायों के हैं। उनकी माँग है कि सरकार अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए विशेष कदम उठाए।
- महिला-आंदोलन का कहना है कि सभी धर्मों में वर्णित पारिवारिक कानून महिलाओं से भेदभाव करते हैं। इस आंदोलन की माँग है कि सरकार को इन कानूनों को समतामूलक बनाने के लिए उनमें बदलाव करने चाहिए।

ये सभी मामले धर्म और राजनीति से जुड़े हैं पर ये बहुत गलत या खतरनाक भी नहीं लगते। विभिन्न धर्मों से निकले विचार, आदर्श और मूल्य राजनीति में एक भूमिका निभा सकते हैं। लोगों को एक धार्मिक समुदाय के तौर पर अपनी ज़रूरतों, हितों ओर माँगों को राजनीति में उठाने का अधिकार होना चाहिए। जो लोग राजनीतिक सत्ता में

हों उन्हें धर्म के कामकाज पर नज़र रखनी चाहिए और अगर वह किसी के साथ भेदभाव करता है या किसी के दमन में सहयोगी की भूमिका निभाता है तो इसे रोकना चाहिए। अगर शासन सभी धर्मों के साथ समान बरताव करता है तो उसके ऐसे कामों में कोई बुराई नहीं है।

सांप्रदायिकता

समस्या तब शुरू होती है जब धर्म को राष्ट्र का आधार मान लिया जाता है। पिछले अध्याय का उत्तरी आयरलैंड का उदाहरण राष्ट्रवाद की ऐसी ही अवधारणा से जुड़े खतरों को दिखाता है। समस्या तब और विकराल हो जाती है जब राजनीति में धर्म की अभिव्यक्ति एक समुदाय की विशिष्टता के दावे और पक्षपोषण का रूप लेने लगती है तथा इसके अनुयायी दूसरे धर्मावलंबियों के खिलाफ़ मोर्चा खोलने लगते हैं। ऐसा तब होता है जब एक धर्म के विचारों को दूसरे से श्रेष्ठ माना जाने लगता है और कोई एक धार्मिक समूह अपनी माँगों को दूसरे समूह के विरोध में खड़ा करने लगता है। इस प्रक्रिया में जब राज्य अपनी सत्ता का इस्तेमाल किसी एक धर्म के पक्ष में करने लगता है तो स्थिति और विकट होने लगती है। राजनीति से धर्म को इस तरह जोड़ना ही सांप्रदायिकता है।

सांप्रदायिक राजनीति इस सोच पर आधारित होती है कि धर्म ही सामाजिक समुदाय का निर्माण करता है। इस मान्यता के अनुकूल सोचना सांप्रदायिकता है। इस सोच के अनुसार एक खास धर्म में आस्था रखने वाले लोग एक ही समुदाय के होते हैं। उनके मौलिक हित एक जैसे होते हैं तथा समुदाय के लोगों के आपसी मतभेद सामुदायिक जीवन में कोई अहमियत नहीं रखते । इस सोच में यह बात भी शामिल है कि किसी अलग धर्म को मानने वाले लोग दूसरे सामाजिक समुदाय का हिस्सा नहीं हो सकते; अगर विभिन्न धर्मों के लोगों की सोच में कोई समानता दिखती है तो यह ऊपरी और बेमानी होती है। अलग-अलग धर्मों के लोगों के हित तो अलग-अलग होंगे ही और उनमें टकराव भी होगा। सांप्रदायिक सोच जब ज़्यादा आगे बढ़ती है तो उसमें यह विचार जुड़ने लगता है कि दूसरे धर्मों के अनुयायी एक ही राष्ट्र में समान नागरिक के तौर पर नहीं रह सकते। इस मानसिकता के अनुसार या तो एक समुदाय के लोगों को दूसरे समुदाय के वर्चस्व में रहना होगा या फिर उनके लिए अलग राष्ट्र बनाना होगा।

यह मान्यता बुनियादी रूप से गलत है। एक धर्म के लोगों के हित और उनकी आकांक्षाएँ हर मामले में एक जैसी हों– यह संभव नहीं है। हर व्यक्ति कई तरह की भूमिका निभाता है। उसकी हैसियत और पहचान अलग-अलग होती है। हर समुदाय में तरह-तरह के विचार के लोग होते हैं। इन सभी को अपनी बात कहने का अधिकार है इसलिए एक धर्म से जुड़े सभी लोगों को किसी गैर-धार्मिक संदर्भ में एक करके देखना उस समुदाय की विभिन्न आवाज़ों को दबाना है।

सांप्रदायिकता राजनीति में अनेक रूप धारण कर सकती है :

- सांप्रदायिकता की सबसे आम अभिव्यक्ति दैनंदिन जीवन में ही दिखती है। इनमें धार्मिक पूर्वाग्रह, धार्मिक समुदायों के बारे में बनी बनाई धारणाएँ और एक धर्म को दूसरे धर्म से श्रेष्ठ मानने की मान्यताएँ शामिल हैं। ये चीज़ें इतनी आम हैं कि अक्सर हम उन पर ध्यान तक नहीं देते जबकि ये हमारे अंदर ही बैठी होती हैं।
- सांप्रदायिक सोच अक्सर अपने धार्मिक समुदाय का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के फ़िराक में रहती है। जो लोग बहुसंख्यक समुदाय के होते हैं उनकी यह कोशिश बहुसंख्यकवाद का रूप ले लेती है। जो अल्पसंख्यक समुदाय के होते हैं उनमें यह विश्वास अलग राजनीतिक इकाई बनाने की इच्छा का रूप ले लेता है।

मैं अक्सर दूसरे धर्म के लोगों के बारे में चुटकुले सुनाता हूँ। क्या इससे मैं भी सांप्रदायिक बन जाता हूँ?
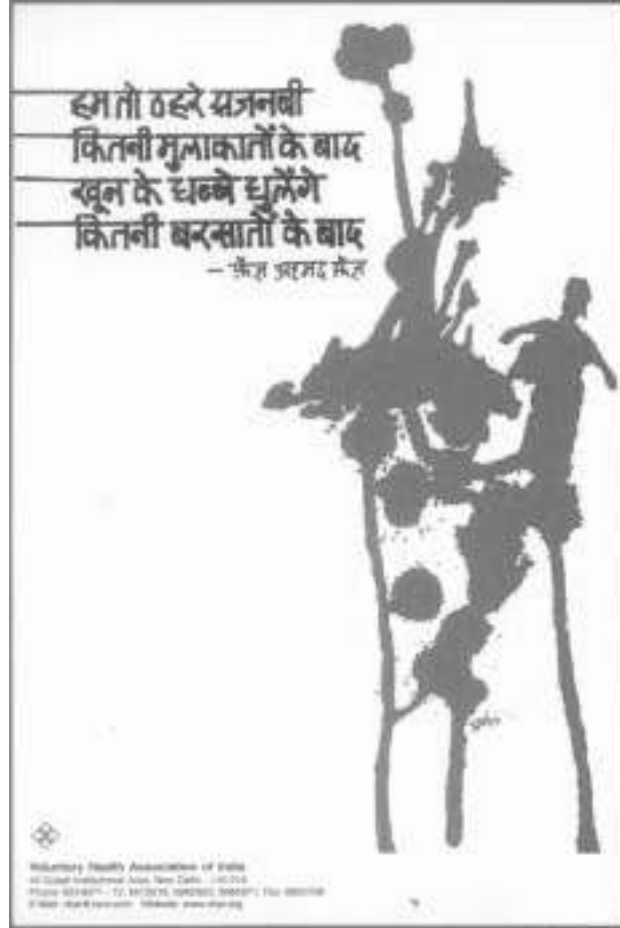
● सांप्रदायिक आधार पर राजनीतिक गोलबंदी सांप्रदायिकता का दूसरा रूप है। इसमें धर्म के पवित्र प्रतीकों, धर्मगुरुओं, भावनात्मक अपील और अपने ही लोगों के मन में डर बैठाने जैसे तरीकों का उपयोग बहुत आम है। चुनावी राजनीति में एक धर्म के मतदाताओं की भावनाओं या हितों की बात उठाने जैसे तरीके अक्सर अपनाए जाते हैं।

● कई बार सांप्रदायिकता सबसे गंदा रूप लेकर संप्रदाय के आधार पर हिंसा, दंगा और नरसंहार कराती है। विभाजन के समय भारत और पाकिस्तान में भयावह सांप्रदायिक दंगे हुए थे। आज़ादी के बाद भी बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक हिंसा हुई है।

धर्मनिरपेक्ष शासन

सांप्रदायिकता हमारे देश के लोकतंत्र के लिए एक बड़ी चुनौती रही है। हमारे संविधान निर्माता इस चुनौती के प्रति सचेत थे। इसी कारण उन्होंने धर्मनिरपेक्ष शासन का मॉडल चुना और इसी आधार पर संविधान में अनेक प्रावधान किए गए इनके बारे में हम पिछले साल पढ़ चुके हैं।

● भारतीय राज्य ने किसी भी धर्म को राजकीय धर्म के रूप में अंगीकार नहीं किया है। श्रीलंका में बौद्ध धर्म, पाकिस्तान में इस्लाम और इंग्लैंड में ईसाई धर्म का जो दर्जा रहा है उसके विपरीत भारत का संविधान किसी धर्म को विशेष दर्जा नहीं देता।

● संविधान सभी नागरिकों और समुदायों को किसी भी धर्म का पालन करने और प्रचार करने की आज़ादी देता है।

● संविधान धर्म के आधार पर किए जाने वाले किसी तरह के भेदभाव को अवैधानिक घोषित करता है।

● इसके साथ ही संविधान धार्मिक समुदायों में समानता सुनिश्चित करने के लिए शासन को धार्मिक मामलों में दखल देने का अधिकार देता है। जैसे, यह छुआछूत की इजाज़त नहीं देता।

इस हिसाब से देखें तो धर्मनिरपेक्षता कुछ पार्टियों या व्यक्तियों की एक विचारधारा भर नहीं है। यह विचार हमारे संविधान की बुनियाद है। सांप्रदायिकता भारत में सिर्फ़ कुछ लोगों के लिए ही एक खतरा नहीं है। यह भारत की बुनियादी अवधारणा के लिए एक चुनौती है, एक खतरा है। हमारी तरह का धर्मनिरपेक्ष संविधान ज़रूरी चीज़ है पर अकेले इसी के बूते सांप्रदायिकता का मुकाबला नहीं किया जा सकता। हमें अपने दैनंदिन जीवन में सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों और दुष्प्रचारों का मुकाबला करना होगा तथा धर्म पर आधारित गोलबंदी का मुकाबला राजनीति के दायरे में करने की ज़रूरत है।

जाति और राजनीति

हमने राजनीति में सामाजिक विभाजन की दो अभिव्यक्तियाँ देखीं। इनमें एक मोटे तौर पर सकारात्मक या लाभदायक है तो दूसरी नकारात्मक या नुकसानदेह। आइए, अब अंतिम प्रमुख विभाजन- यानी जाति और राजनीति की चर्चा करें इसके सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों ही पक्ष हैं।

जातिगत असमानताएँ

लिंग और धर्म पर आधारित विभाजन तो दुनिया भर में हैं पर जाति पर आधारित विभाजन सिर्फ़ भारतीय समाज में ही देखने को मिलता है। सभी समाजों में कुछ सामाजिक असमानताएँ और एक न एक तरह का श्रम का विभाजन मौजूद होता है। अधिकतर समाजों में पेशा परिवार की एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाता है। लेकिन जाति व्यवस्था इसका एक अतिवादी और स्थायी रूप है। अन्य समाजों में मौजूद असमानताओं से यह

अजीत नीनन, द टाइम्स ऑफ इंडिया

यह कुर्सी मुख्यमंत्री बनने वाले के लिए बनाई गई है ताकि वह अपनी धर्मनिरपेक्षता को साबित करे... इस पर बड़े झटके लगेंगे...

एक खास अर्थ में भिन्न है। इसमें पेशा के वंशानुगत विभाजन को रीति-रिवाजों की मान्यता प्राप्त है। एक जाति समूह के लोग एक या मिलते-जुलते पेशों के तो होते ही हैं साथ ही उन्हें एक अलग सामाजिक समुदाय के रूप में भी देखा जाता है। उनमें आपस में ही बेटी-रोटी अर्थात शादी और खानपान का संबंध रहता है। अन्य जाति समूहों में उनके बच्चों की न तो शादी हो सकती है न महत्वपूर्ण पारिवारिक और सामुदायिक आयोजनों में उनकी पाँत में बैठकर दूसरी जाति के लोग भोजन कर सकते हैं।

वर्ण-व्यवस्था अन्य जाति-समूहों से भेदभाव और उन्हें अपने से अलग मानने की धारणा पर आधारित है। इसमें 'अंत्यज' जातियों के साथ छुआछूत का व्यवहार किया जाता था। इसकी चर्चा हमने 9वीं कक्षा में की थी। यही कारण है कि ज्योतिबा फुले, महात्मा गांधी, डॉ. आंबेडकर और पेरियार रामास्वामी नायकर जैसे राजनेताओं और समाज सुधारकों ने जातिगत भेदभाव से मुक्त समाज व्यवस्था बनाने की बात की और उसके लिए काम किया।

वर्ण-व्यवस्था : जाति समूहों का पदानुक्रम जिसमें एक जाति के लोग हर हाल में सामाजिक पायदान में सबसे ऊपर रहेंगे तो किसी अन्य जाति समूह के लोग क्रमागत के रूप से उनके नीचे।

भारत की सामाजिक और धार्मिक विविधता

जनगणना में प्रत्येक दस साल बाद सभी नागरिकों के धर्म को भी दर्ज किया जाता है। जनगणना विभाग के आदमी घर-घर जाकर लोगों से उनके बारे में सूचनाएँ जुटाते हैं। धर्म समेत सभी बातों के बारे में लोग जो कुछ बताते हैं, ठीक वैसा ही फार्म में दर्ज किया जाता है। अगर कोई कहता है कि वह नास्तिक है या किसी धर्म को नहीं मानता तो फार्म में भी इसे वैसे ही दर्ज कर दिया जाता है। इस कारण देश में विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोगों की संख्या और उनके अनुपात में आए किसी बदलाव के बारे में हमारे पास विश्वसनीय सूचनाएँ हैं। नीचे दिए गए पाई चार्ट से देश के छह प्रमुख धार्मिक समुदायों की आबादी के अनुपात का पता चलता है।

आज़ादी के बाद से प्रत्येक धार्मिक समूह की आबादी तो काफ़ी बढ़ी है पर कुल आबादी में उनका अनुपात ज़्यादा नहीं बदला है। प्रतिशत के हिसाब से देखें तो 1961 के बाद से हिंदू, जैन और ईसाई समुदाय का हिस्सा मामूली रूप से घटा है जबकि मुसलमान, सिख और बौद्धों का हिस्सा मामूली रूप से बढ़ा है।

एक आम लेकिन भ्रांत धारणा यह है कि देश की आबादी में मुसलमानों का प्रतिशत इतना बढ़ जाएगा कि दूसरे धर्म-समुदाय उससे पीछे हो जाएँगे। प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त उच्चस्तरीय समिति (इसे सच्चर समिति के नाम से जाना गया) के आकलन से स्पष्ट होता है कि मुस्लिम आबादी का अनुपात थोड़ा ज़रूर बढ़ेगा लेकिन अगले पचास सालों में भी यह बढ़वार 3-4 प्रतिशत तक ही रहेगी। इससे साबित होता है कि एक व्यापक फलक पर विभिन्न धर्म समुदायों के अनुपात में कोई बड़ा उलट-फेर नहीं होने वाला।

यही बात प्रमुख जाति समूहों पर भी लागू होती है। जनगणना में सिर्फ दो विशिष्ट समूहों : अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों की गिनती अलग से दर्ज की जाती है। इन दोनों बड़े समूहों में ऐसी सैंकड़ों जातियाँ और आदिवासी समूह शामिल हैं जिनके नाम सरकारी अनुसूची में दर्ज हैं। इसी के चलते इनके नाम के साथ 'अनुसूचित' शब्द लगाया गया है। अनुसूचित जातियों में, जिन्हें आम तौर पर दलित कहा जाता है, सामान्यत: वे हिंदू जातियाँ आती हैं जिन्हें हिंदू सामाजिक व्यवस्था में अछूत माना जाता था। इन जातियों के साथ भेदभाव किया जाता था और इन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। अनुसूचित जनजातियों में जिन्हें आमतौर पर आदिवासी कहा जाता है, वे समुदाय शामिल हैं जो अमूमन पहाड़ी और जंगली इलाकों में रहते हैं और जिनका बाकी समाज से ज़्यादा मेल-जोल नहीं था। 2001 में, देश की आबादी में अनुसूचित जातियों का हिस्सा 16.2 फ़ीसदी और अनुसूचित जनजातियों का हिस्सा 8.2 फ़ीसदी था।

जनगणना में अभी तक अन्य पिछड़ी जातियों की गिनती नहीं की जाती। इनकी चर्चा हमने 9वीं कक्षा में की थी। पूरे देश में इनकी आबादी कितनी है– इस बात को लेकर कोई एक स्पष्ट अनुमान नहीं है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, 2004-05 का अनुमान है कि इनकी आबादी करीब 41 फीसदी है। इस प्रकार मुल्क की आबादी में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों का हिस्सा लगभग दो तिहाई तथा हिंदुओं की आबादी का लगभग तीन-चौथाई है।
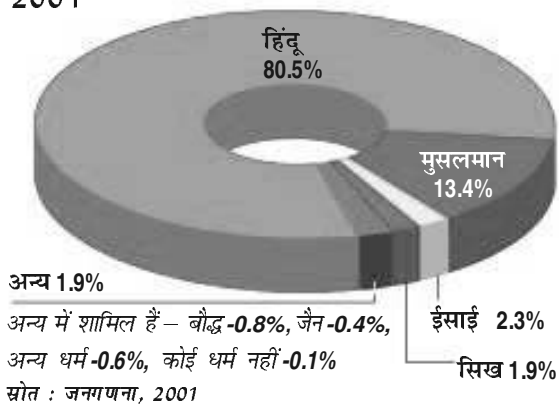
इन महापुरुषों के प्रयासों और सामाजिक-आर्थिक बदलावों के चलते आधुनिक भारत में जाति की संरचना और जाति व्यवस्था में भारी बदलाव आया है। आर्थिक विकास, शहरीकरण, साक्षरता और शिक्षा के विकास, पेशा चुनने की आज़ादी और गाँवों में ज़मींदारी व्यवस्था के कमज़ोर पड़ने से जाति व्यवस्था के पुराने स्वरूप और वर्ण व्यवस्था पर टिकी मानसिकता में बदलाव आ रहा है। शहरी इलाकों में तो अब ज़्यादातर इस बात का कोई हिसाब नहीं रखा जाता कि ट्रेन या बस में आपके साथ कौन बैठा है या रेस्तराँ में आपकी मेज़ पर बैठकर खाना खा रहे आदमी की जाति क्या है? संविधान में किसी भी तरह के जातिगत भेदभाव का निषेध किया गया है। संविधान ने जाति व्यवस्था से पैदा हुए अन्याय को समाप्त करने वाली नीतियों का आधार तय किया है। अगर सौ साल पहले का कोई व्यक्ति एक बार फिर भारत लौटकर आए तो यहाँ हुए बदलावों को देखकर हैरान रह जाएगा।

बहरहाल, समकालीन भारत से जाति प्रथा विदा नहीं हुई है। जाति व्यवस्था के कुछ पुराने पहलू अभी भी बरकरार हैं। अभी भी ज़्यादातर लोग अपनी जाति या कबीले में ही शादी करते हैं। स्पष्ट संवैधानिक प्रावधान के बावजूद छुआछूत की प्रथा अभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। जाति व्यवस्था के अंतर्गत सदियों से कुछ समूहों को लाभ की स्थिति में तो कुछ समूहों को दबाकर रखा गया है। इसका प्रभाव सदियों बाद आज तक नज़र आता है। जिन जातियों में पहले से ही पढ़ाई-लिखाई का चलन मौजूद था और जिनकी शिक्षा पर पकड़ थी, आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में भी उन्हीं का बोलबाला है। जिन जातियों को पहले शिक्षा से वंचित रखा जाता था उनके सदस्य अभी भी स्वाभाविक तौर पर पिछड़े हुए हैं। यही कारण है कि शहरी मध्यम वर्ग में अगड़ी जाति के लोगों का अनुपात असामान्य रूप से काफ़ी ज़्यादा है। जाति और आर्थिक हैसियत में काफ़ी निकट

मुझे अपनी जाति की परवाह नहीं रहती। हम पाठ्यपुस्तक में इसकी चर्चा क्यों कर रहे हैं? क्या हम जाति पर चर्चा करके जातिवाद को बढ़ावा नहीं दे रहे हैं?

अब तुम्हें यह पसंद नहीं आ रहा है! क्या तुम्हीं ने नहीं कहा था कि जहाँ भी प्रभुत्व या वर्चस्व की बात आए तो हमें राजनीति विज्ञान में उसकी चर्चा करनी चाहिए? क्या हमारे चुप रहने से जाति व्यवस्था समाप्त हो जाएगी?

का संबंध है। [जातिगत असमानताएँ शीर्षक बॉक्स देखें]

राजनीति में जाति

सांप्रदायिकता की तरह जातिवाद भी इस मान्यता पर आधारित है कि जाति ही सामाजिक समुदाय के गठन का एकमात्र आधार है। इस चिंतन पद्धति के अनुसार एक जाति के लोग एक स्वाभाविक सामाजिक समुदाय का निर्माण करते हैं और उनके हित एक जैसे होते हैं तथा दूसरी जाति के लोगों से उनके हितों का कोई मेल नहीं होता। जैसा कि हमने सांप्रदायिकता के मामले में देखा है, यह मान्यता हमारे अनुभव से पुष्ट नहीं होती। हमारे अनुभव बताते हैं कि जाति हमारे जीवन का एक पहलू ज़रूर है लेकिन यही एकमात्र या सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण पहलू नहीं है। राजनीति में जाति अनेक रूप ले सकती है-

- जब पार्टियाँ चुनाव के लिए उम्मीदवारों के नाम तय करती हैं तो चुनाव क्षेत्र के मतदाताओं की जातियों का हिसाब ध्यान में रखती हैं ताकि उन्हें चुनाव जीतने के लिए ज़रूरी वोट मिल जाए। जब सरकार का गठन किया जाता है तो राजनीतिक दल इस बात का ध्यान रखते हैं कि उसमें विभिन्न जातियों और कबीलों के लोगों को उचित जगह दी जाए।

शहरीकरण : ग्रामीण इलाकों से निकलकर लोगों का शहरों में बसना।

जातिगत असमानता

आर्थिक असमानता का एक महत्वपूर्ण आधार जाति भी है क्योंकि इससे विभिन्न संसाधनों तक लोगों की पहुँच निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए पहले 'अछूत' कही जाने वाली जातियों के लोगों को जमीन रखने का अधिकार नहीं था जबकि कथित 'द्विज' जातियों को ही शिक्षा पाने का अधिकार था। आज जाति पर आधारित इस किस्म की औपचारिक और प्रकट असमानताएँ तो गैरकानूनी हो गई है पर सदियों से जिस व्यवस्था ने कुछ समूहों को लाभ या घाटे की स्थिति में बनाए रखा है उसका संचित असर अभी भी महसूस किया जा सकता है। इतना ही नहीं, इस बीच नयी तरह की असमानताएँ भी उभरी हैं।

निश्चित रूप से जाति और आर्थिक हैसियत की पुरानी स्थिति में काफ़ी बदलाव आया है। आज 'ऊँची' या 'नीची' किसी भी जाति में बहुत अमीर और बहुत गरीब लोग देखे जा सकते हैं। बीस या तीस वर्ष पहले तक ऐसा नहीं था। तब सबसे 'नीची' जातियों में कोई अमीर आदमी बमुश्किल ही ढूँढ़े मिलता था। पर, जैसा कि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण से स्पष्ट है– आज भी जाति आर्थिक हैसियत के निर्धारण में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है :

- औसत आर्थिक हैसियत [जिसे मासिक खर्च जैसे हिसाबों से मापा जाता है] अभी भी वर्णव्यवस्था के साथ गहरा संबंध दर्शाती है यानी 'ऊँची' जाति के लोगों की आर्थिक स्थिति सबसे अच्छी है। दलित तथा आदिवासियों की आर्थिक स्थिति सबसे खराब है, जबकि पिछड़ी जातियाँ बीच की स्थिति में हैं।

- हर जाति में गरीब लोग हैं, पर भारी दरिद्रता में [सरकारी गरीबी रेखा के नीचे] जीवन बसर करने वालों में ज़्यादा बड़ी संख्या सबसे निचली जातियों के लोगों की है। ऊँची जातियों में गरीबी का प्रतिशत सबसे कम है। इस मामले में भी पिछड़ी जातियों के लोग बीच की स्थिति में है।

- आज सभी जातियों में अमीर लोग हैं पर यहाँ भी ऊँची जाति वालों का अनुपात बहुत ज़्यादा है और निचली जातियों का बहुत कम।

गरीबी रेखा के नीचे जीवन बसर करने वालों का प्रतिशत अनुपात, 1999-2000

जाति और समुदाय	ग्रामीण	शहरी
अनुसूचित जनजातियाँ	45.8	35.6
अनुसूचित जातियाँ	35.9	38.3
अन्य पिछड़ी जातियाँ	27.00	29.5
मुसलमान अगड़ी जातियाँ	26.8	34.2
हिंदू अगड़ी जातियाँ	11.7	9.9
ईसाई अगड़ी जातियाँ	9.6	5.4
ऊँची जाति के सिख	0.0	4.9
अन्य अगड़ी जातियाँ	16.0	2.7
सभी समूह	27.0	23.4

नोट : यहाँ अगड़ी जाति का मतलब उन सभी लोगों से है जो अनुसूचित जाति/जनजाति या पिछड़ी जातियों के अंतर्गत नहीं आते। गरीबी रेखा से नीचे का मतलब है प्रति व्यक्ति प्रति माह 327 रुपए [ग्रामीण] और 455 [शहरी] रुपये से कम खर्च करने वाले लोग।

स्रोत : राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, 55वाँ दौर, 1999-2000

● राजनीतिक पार्टियाँ और उम्मीदवार समर्थन हासिल करने के लिए जातिगत भावनाओं को उकसाते हैं। कुछ दलों को कुछ जातियों के मददगार और प्रतिनिधि के रूप में देखा जाता है।

● सार्वभौम वयस्क मताधिकार और एक व्यक्ति-एक वोट की व्यवस्था ने राजनीतिक दलों को विवश किया कि वे राजनीतिक समर्थन पाने और लोगों को गोलबंद करने के लिए सक्रिय हों। इससे उन जातियों के लोगों में नयी चेतना पैदा हुई जिन्हें अभी तक छोटा और नीच माना जाता था।

राजनीति में जाति पर जोर देने के कारण कई बार यह धारणा बन सकती है कि चुनाव जातियों का खेल है, कुछ और नहीं। यह बात सच नहीं है। जरा इन चीजों पर गौर कीजिए:

● देश के किसी भी एक संसदीय चुनाव क्षेत्र में किसी एक जाति के लोगों का बहुमत नहीं है इसलिए हर पार्टी और उम्मीदवार को चुनाव जीतने के लिए एक जाति और एक समुदाय से ज़्यादा लोगों का भरोसा हासिल करना पड़ता है।

● कोई भी पार्टी किसी एक जाति या समुदाय के सभी लोगों का वोट हासिल नहीं कर सकती। जब लोग किसी जाति विशेष को किसी एक पार्टी का 'वोट बैंक' कहते हैं तो इसका मतलब यह होता है कि उस जाति के ज़्यादातर लोग उसी पार्टी को वोट देते हैं।

● अगर किसी चुनाव क्षेत्र में एक जाति के लोगों का प्रभुत्व माना जा रहा हो तो अनेक पार्टियों को उसी जाति का उम्मीदवार खड़ा करने से कोई रोक नहीं सकता। ऐसे में कुछ मतदाताओं के सामने उनकी जाति के एक से ज़्यादा उम्मीदवार होते हैं तो किसी-किसी जाति के मतदाताओं के सामने उनकी जाति का एक भी उम्मीदवार नहीं होता।

● हमारे देश में सत्तारूढ़ दल, वर्तमान सांसदों और विधायकों को अक्सर हार का सामना करना पड़ता है। अगर जातियों और समुदायों की राजनीतिक पसंद एक ही होती तो ऐसा संभव नहीं हो पाता।

स्पष्ट है कि चुनाव में जाति की भूमिका महत्वपूर्ण होती है किंतु दूसरे कारक भी इतने ही असरदार होते हैं। मतदाता अपनी जातियों से जितना जुड़ाव रखते हैं अक्सर उससे ज़्यादा गहरा जुड़ाव राजनीतिक दलों से रखते हैं। एक जाति या समुदाय के भीतर भी अमीर और गरीब लोगों के हित अलग-अलग होते हैं। एक ही समुदाय के अमीर और गरीब लोग अक्सर अलग-अलग पार्टियों को वोट देते हैं। सरकार के कामकाज के बारे में लोगों की राय और नेताओं की लोकप्रियता का चुनावों पर अक्सर निर्णायक असर होता है।

जाति के अंदर राजनीति

अभी तक हमने इसी चीज पर गौर किया है कि राजनीति में जाति की क्या भूमिका होती है। पर, इसका यह मतलब नहीं है कि जाति और राजनीति के बीच सिर्फ़ एकतरफ़ा संबंध होता है। राजनीति भी जातियों को राजनीति के अखाड़े में लाकर जाति व्यवस्था और

अजीत नीनन-इंडिया टुडे बुक ऑफ कार्टून्स

क्या आपको यह बात ठीक लगती है कि राजनेता किसी जाति के लोगों को अपने वोट-बैंक के रूप में देखें?

अप्रकट रंगभेद

इस मुल्क में पैदा होने की ग़लती करने वालों...

चले जाते हैं जो विदेश
बोलते हैं परायी भाषा-पहनते हैं अज़नबी पोशाक
और भूल जाते हैं इस मुल्क को,
उन्हें मेरा सलाम!
और, जो नहीं भूलते
सदियों तक पीटे जाने के बाद भी नहीं बदलते
– ऐसे बेग़ैरतों से मैं पूछता हूँ:
क्या कहोगे अगर किसी ने पूछा तुमसे-
क्या होता है छुआछूत?
क्या यह ईश्वर की तरह ही अविनाशी है?
कैसा होता है अछूत? किसकी तरह दीखता है?
क्या वह खुद में कोढ़ की तस्वीर होता है,
या फिर, धर्माधीशों का दुश्मन?
क्या वह विधर्मी होता है-एक पापी या फिर नास्तिक?
बताओ मुझे!
क्या ज़वाब होगा तुम्हारा?
क्या तुम बग़ैर हिचकिचाए कह सकोगे:
मैं ही हूँ अछूत?
इसी से मैं कहता हूँ –
इस मुल्क में पैदा होने की ग़लती करने वालो!
तुम्हें अब ग़लती सुधारनी होगी–
या तो देश छोड़ो या युद्ध करो!

– बाबूराव बागुल की कविता का हिंदी अनुवाद

जातिगत पहचान को प्रभावित करती है। इस तरह, सिर्फ़ राजनीति ही जातिग्रस्त नहीं होती जाति भी राजनीतिग्रस्त हो जाती है। यह चीज अनेक रूप लेती है:

- हर जाति खुद को बड़ा बनाना चाहती है। सो, पहले वह अपने समूह की जिन उप जातियों को छोटा या नीचा बताकर अपने से बाहर रखना चाहती थी अब उन्हें अपने साथ लाने की कोशिश करती हैं।

- चूँकि एक जाति अपने दम पर सत्ता पर कब्ज़ा नहीं कर सकती इसलिए वह ज़्यादा राजनीतिक ताकत पाने के लिए दूसरी जातियों

या समुदायों को साथ लेने की कोशिश करती है और इस तरह उनके बीच संवाद और मोल-तोल होता है।

● राजनीति में नए किस्म की जातिगत गोलबंदी भी हुई हैं, जैसे 'अगड़ा' और 'पिछड़ा'।

इस प्रकार जाति राजनीति में कई तरह की भूमिकाएँ निभाती है और एक तरह से यही चीज़ें दुनिया भर की राजनीति में चलती हैं। दुनिया भर में राजनीतिक पार्टियाँ वोट पाने के लिए सामाजिक समूहों और समुदायों को गोलबंद करने का प्रयास करती हैं। कुछ खास स्थितियों में राजनीति में जातिगत विभिन्नताएँ और असमानताएँ वंचित और कमज़ोर समुदायों के लिए अपनी बातें आगे बढ़ाने और सत्ता में अपनी हिस्सेदारी माँगने की गुंजाइश भी पैदा करती हैं। इस अर्थ में जातिगत राजनीति ने दलित और पिछड़ी जातियों के लोगों के लिए सत्ता तक पहुँचने तथा निर्णय प्रक्रिया को बेहतर ढंग से प्रभावित करने की स्थिति भी पैदा की है। अनेक पार्टियाँ और गैर-राजनीतिक संगठन खास जातियों के खिलाफ़ भेदभाव समाप्त करने, उनके साथ ज़्यादा सम्मानजनक व्यवहार करने, उनके लिए ज़मीन-ज़ायदाद और अवसर उपलब्ध कराने की माँग को लेकर आंदोलन करते रहे हैं। पर, इसके साथ ही यह भी सच है कि सिर्फ़ जाति पर जोर देना नुकसानदेह हो सकता है। जैसा कि धर्म के मसले से स्पष्ट होता है, सिर्फ़ जातिगत पहचान पर आधारित राजनीति लोकतंत्र के लिए शुभ नहीं होती। इससे अक्सर गरीबी, विकास, भ्रष्टाचार जैसे ज़्यादा बड़े मुद्दों से लोगों का ध्यान भी भटकता है। कई बार जातिवाद तनाव, टकराव और हिंसा को भी बढ़ावा देता है।

1. जीवन के उन विभिन्न पहलुओं का ज़िक्र करें जिनमें भारत में स्त्रियों के साथ भेदभाव होता है या वे कमज़ोर स्थिति में होती हैं।
2. विभिन्न तरह की सांप्रदायिक राजनीति का ब्यौरा दें और सबके साथ एक-एक उदाहरण भी दें।
3. बताइए कि भारत में किस तरह अभी भी जातिगत असमानाताएँ जारी हैं।
4. दो कारण बताएँ कि क्यों सिर्फ़ जाति के आधार पर भारत में चुनावी नतीजे तय नहीं हो सकते।
5. भारत की विधायिकाओं में महिलाओं के प्रतिनिधित्व की स्थिति क्या है?
6. किन्हीं दो प्रावधानों का जिक्र करें जो भारत को धर्मनिरपेक्ष देश बनाते हैं।
7. जब हम लैंगिक विभाजन की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय होता है :
   (क) स्त्री और पुरुष के बीच जैविक अंतर
   (ख) समाज द्वारा स्त्री और पुरुष को दी गई असमान भूमिकाएँ
   (ग) बालक और बालिकाओं की संख्या का अनुपात।
   (घ) लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में महिलाओं को मतदान का अधिकार न मिलना।
8. भारत में यहाँ औरतों के लिए आरक्षण की व्यवस्था है :
   (क) लोकसभा
   (ख) विधानसभा
   (ग) मंत्रिमंडल
   (घ) पंचायती राज की संस्थाएँ
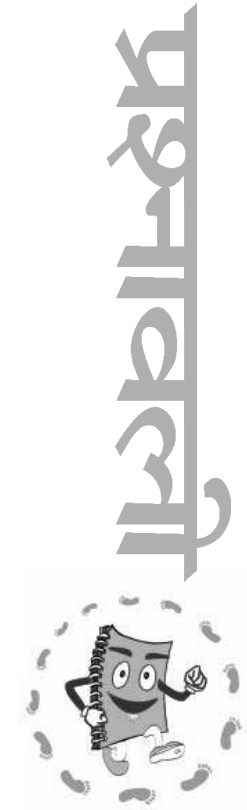
9. सांप्रदायिक राजनीति के अर्थ संबंधी निम्नलिखित कथनों पर गौर करें। सांप्रदायिक राजनीति इस धारणा पर आधारित है कि :

(अ) एक धर्म दूसरों से श्रेष्ठ है।

(ब) विभिन्न धर्मों के लोग समान नागरिक के रूप में खुशी-खुशी साथ रह सकते हैं।

(स) एक धर्म के अनुयायी एक समुदाय बनाते हैं।

(द) एक धार्मिक समूह का प्रभुत्व बाकी सभी धर्मों पर कायम करने में शासन की शक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

इनमें से कौन या कौन-कौन सा कथन सही है?

(क) अ, ब, स और द (ख) अ, ब और द (ग) अ और स (घ) ब और द

10. भारतीय संविधान के बारे में इनमें से कौन सा कथन गलत है?

(क) यह धर्म के आधार पर भेदभाव की मनाही करता है।

(ख) यह एक धर्म को राजकीय धर्म बताता है।

(ग) सभी लोगों को कोई भी धर्म मानने की आज़ादी देता है।

(घ) किसी धार्मिक समुदाय में सभी नागरिकों को बराबरी का अधिकार देता है।

11. .... पर आधारित सामाजिक विभाजन सिर्फ़ भारत में ही है।

12. सूची I और सूची II का मेल कराएँ और नीचे दिए गए कोड के आधार पर सही जवाब खोजें।

	सूची-I	**सूची-II**
1.	अधिकारों और अवसरों के मामले में स्त्री और पुरुष की बराबरी मानने वाला व्यक्ति	(क) सांप्रदायिक
2.	धर्म को समुदाय का मुख्य आधार मानने वाला व्यक्ति	(ख) नारीवादी
3.	जाति को समुदाय का मुख्य आधार मानने वाला व्यक्ति	(ग) धर्मनिरपेक्ष
4.	व्यक्तियों के बीच धार्मिक आस्था के आधार पर भेदभाव न करने वाला व्यक्ति	(घ) जातिवादी

	1	2	3	4
(सा)	ख	ग	क	घ
(रे)	ख	क	घ	ग
(गा)	घ	ग	क	ख
(मा)	ग	क	ख	घ

प्रश्नावली

जन-संघर्ष और आंदोलन

अध्याय 5

परिचय

पिछले अध्यायों में हमने पढ़ा कि लोकतंत्र में सत्ता का बँटवारा क्यों ज़रूरी है और सरकार के अलग-अलग अंग तथा विभिन्न सामाजिक समूह कैसे सत्ता में हिस्सेदारी करते हैं। इस अध्याय में हम इसी पिछली चर्चा को आगे बढ़ाते हुए देखेंगे कि सत्ताधारी स्वच्छंद नहीं हैं। अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभाव और दबाव से वे मुक्त नहीं रह सकते। लोकतंत्र में अमूमन हितों और नज़रियों का टकराव चलते रहता है। हितों और नज़रियों के इस द्वंद्व की अभिव्यक्ति संगठित तरीके से होती है। जिनके पास सत्ता होती है उन्हें परस्पर विरोधी माँगों और दबावों में संतुलन बैठाना पड़ता है। इस अध्याय की शुरुआत में हम जानेंगे कि कैसे परस्पर विरोधी माँगों और दबावों के बीच लोकतंत्र आकार ग्रहण करता है। इस चर्चा के क्रम में हम यह भी जानेंगे कि आम नागरिक विभिन्न तरीकों तथा संगठनों के सहारे लोकतंत्र में अपनी भूमिका निभाते हैं। अध्याय में हम राजनीति को प्रभावित करने के अप्रत्यक्ष तरीके यानी दबाव-समूह और आंदोलनों की चर्चा करेंगे। इस तरह हम अगले अध्याय की बातों के लिए तैयार होंगे जिसमें राजनीतिक सत्ता को राजनीतिक दलों के ज़रिए नियंत्रित करने यानी राज-सत्ता को नियंत्रित करने के प्रत्यक्ष तरीके की चर्चा की गई है।

नेपाल और बोलिविया में जन-संघर्ष

क्या आपको पोलैंड में लोकतंत्र की जीत की कथा याद है? हमने इसके बारे में पिछले साल कक्षा-9 की पुस्तक के पहले अध्याय में पढ़ा था। यह कहानी हमें लोकतंत्र की रचना में जनता की भूमिका की याद दिलाती है। आइए, इस तरह की दो हालिया घटनाओं के बारे में पढ़ें और जानें कि लोकतंत्र में सत्ता का इस्तेमाल कैसे होता है।

नेपाल में लोकतंत्र का आंदोलन

सन् 2006 के अप्रैल माह में नेपाल में एक विलक्षण जन-आंदोलन उठ खड़ा हुआ। शायद आपको याद हो कि नेपाल लोकतंत्र की 'तीसरी लहर' के देशों में एक है जहाँ लोकतंत्र 1990 के दशक में कायम हुआ। नेपाल में राजा औपचारिक रूप से राज्य का प्रधान बना रहा लेकिन वास्तविक सत्ता का प्रयोग जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथों में था। आत्यंतिक राजतंत्र से संवैधानिक राजतंत्र के इस संक्रमण को राजा वीरेन्द्र ने स्वीकार कर लिया था लेकिन शाही खानदान के एक रहस्यमय कत्लेआम में राजा वीरेन्द्र की हत्या हो गई। नेपाल के नए राजा ज्ञानेंद्र लोकतांत्रिक शासन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित सरकार की अलोकप्रियता और कमज़ोरी का उन्होंने फ़ायदा उठाया। सन् 2005 की फ़रवरी में राजा ज्ञानेंद्र ने तत्कालीन प्रधानमंत्री को अपदस्थ करके जनता द्वारा निर्वाचित सरकार को भंग कर दिया। 2006 की अप्रैल में जो आंदोलन उठ खड़ा हुआ उसका लक्ष्य शासन की बागडोर राजा के हाथ से लेकर दोबारा जनता के हाथों में सौंपना था।

संसद की सभी बड़ी राजनीतिक पार्टियों ने एक 'सेवेन पार्टी अलायंस' (सप्तदलीय गठबंधन-एस.पी.ए.) बनाया और नेपाल की राजधानी काठमांडू में चार दिन के 'बंद' का आह्वान किया। इस प्रतिरोध ने जल्दी ही अनियतकालीन 'बंद' का रूप ले लिया और

मिन बजराचार्य

नेपाल के लोग और राजनीतिक दल एक 'रैली' में लोकतंत्र की बहालों की माँग करते हुए।

इसमें माओवादी बागी तथा अन्य संगठन भी साथ हो लिए। लोग कर्फ़्यू तोड़कर सड़कों पर उतर आए। तकरीबन एक लाख लोग रोज़ाना एकजुट होकर लोकतंत्र की बहाली की माँग कर रहे थे और लोगों की इतनी बड़ी तादाद के आगे सुरक्षा-बलों की एक न चल सकी। 21 अप्रैल के दिन आंदोलनकारियों की संख्या 3-5 लाख तक पहुँच गई और आंदोलनकारियों ने राजा को 'अल्टीमेटम' दे दिया। राजा ने आधे-अधूरे मन से कुछ रियायत देने की घोषणा की जिसे आंदोलन के नेताओं ने स्वीकार नहीं किया। नेता अपनी माँगों पर अडिग रहे कि संसद को बहाल किया जाय; सर्वदलीय सरकार बने तथा एक नयी संविधान-सभा का गठन हो।

24 अप्रैल 2006 अल्टीमेटम का अंतिम दिन था। इस दिन राजा तीनों माँगों को मानने के लिए बाध्य हुआ। एस.पी.ए. ने गिरिजा प्रसाद कोईराला को अंतरिम सरकार का प्रधानमंत्री चुना। संसद फिर बहाल हुई और इसने अपनी बैठक में कानून पारित किए। इन कानूनों के सहारे राजा की अधिकांश शक्तियाँ वापस ले ली गईं। नयी संविधान-सभा के निर्वाचन के तौर-तरीकों पर एस.पी.ए. और माओवादियों के बीच सहमति बनी। इस संघर्ष को नेपाल का 'लोकतंत्र के लिए दूसरा आंदोलन' कहा गया। नेपाल के लोगों का यह संघर्ष पूरे विश्व के लोकतंत्र-प्रेमियों के लिए प्रेरणा का स्रोत है।

बोलिविया का जल-युद्ध

नेपाल अथवा पोलैंड की कथाएँ लोकतंत्र की स्थापना अथवा उसके पुनरुद्धार की बातें बताती हैं। लेकिन, जन-संघर्ष की भूमिका लोकतंत्र की स्थापना के साथ खत्म नहीं हो जाती। बोलिविया में लोगों ने पानी के निजीकरण के खिलाफ़ एक सफल संघर्ष

माओवादी : चीनी-क्रांति के नेता माओ की विचारधारा को मानने वाले साम्यवादी। माओवादी, मज़दूरों और किसानों के शासन को स्थापित करने के लिए सशस्त्र क्रांति के ज़रिए सरकार को उखाड़ फेंकना चाहते हैं।

चलाया। इससे पता चलता है कि लोकतंत्र की जीवंतता से जन-संघर्ष का अंदरूनी रिश्ता है।

बोलिविया लातिनी अमरीका का एक गरीब देश है। विश्व बैंक ने यहाँ की सरकार पर नगरपालिका द्वारा की जा रही जलापूर्ति से अपना नियंत्रण छोड़ने के लिए दबाव डाला। सरकार ने कोचबंबा शहर में जलापूर्ति के अधिकार एक बहुराष्ट्रीय कंपनी को बेच दिए। इस कंपनी ने आनन-फानन में पानी की कीमत में चार गुना इज़ाफ़ा कर दिया। अनेक लोगों का पानी का मासिक बिल 1000 रुपये तक जा पहुँचा जबकि बोलिविया में लोगों की औसत आमदनी 5000 रुपये महीना है। इसके फलस्वरूप स्वत:स्फूर्त जन-संघर्ष भड़क उठा।

सन् 2000 की जनवरी में श्रमिकों, मानवाधिकार कार्यकर्ताओं तथा सामुदायिक नेताओं के बीच एक गठबंधन ने आकार ग्रहण किया और इस गठबंधन ने शहर में चार दिनों की कामयाब आम हड़ताल की। सरकार बातचीत के लिए राजी हुई और हड़ताल वापस ले ली गई। फिर भी, कुछ हाथ नहीं लगा। फ़रवरी में फिर आंदोलन शुरू हुआ लेकिन इस बार पुलिस ने बर्बरतापूर्वक दमन किया। अप्रैल में एक और हड़ताल हुई और सरकार ने 'मार्शल लॉ' लगा दिया। लेकिन, जनता की ताकत के आगे बहुराष्ट्रीय कंपनी के अधिकारियों को शहर छोड़कर भागना पड़ा। सरकार को आंदोलनकारियों की सारी माँगें माननी पड़ी। बहुराष्ट्रीय कंपनी के साथ किया गया करार रद्द कर दिया गया और जलापूर्ति दोबारा नगरपालिका को सौंपकर पुरानी दरें कायम कर दी गईं। इस आंदोलन को 'बोलिविया के जलयुद्ध' के नाम से जाना गया।

लोकतंत्र और जन-संघर्ष

इन दो कथाओं का संदर्भ बड़ा अलग-अलग है। नेपाल में चले आंदोलन का लक्ष्य लोकतंत्र को स्थापित करना था जबकि बोलिविया के जन-संघर्ष में एक निर्वाचित और लोकतांत्रिक सरकार को जनता की माँग मानने के लिए बाध्य किया गया। बोलिविया का जन-संघर्ष सरकार की एक विशेष नीति के खिलाफ़ था जबकि नेपाल में चले आंदोलन ने यह तय किया कि देश की राजनीति की नींव क्या होगी। ये दोनों ही संघर्ष सफल रहे लेकिन इनके प्रभाव के स्तर अलग-अलग थे।

इन अंतरों के बावजूद दोनों ही कथाओं में कुछ ऐसी बातें हैं जो लोकतंत्र के अतीत और भविष्य के लिए प्रासंगिक हैं। ये दो कथाएँ राजनीतिक संघर्ष का उदाहरण हैं। दोनों ही घटनाओं में जनता बड़े पैमाने पर लामबंद हुई। जन-समर्थन की सार्वजनिक अभिव्यक्ति ने विवाद को उसके परिणाम तक पहुँचाया। इसके साथ-साथ हम यह भी देखते हैं कि दोनों ही घटनाओं में राजनीतिक संगठनों की भूमिका निर्णायक रही। अगर आपको कक्षा-9 की पाठ्यपुस्तक के पहले अध्याय की याद हो तो आप पहचान जाएँगे कि पूरे विश्व में लोकतंत्र का विकास ऐसे ही हुआ है। इस तरह हम इन दो उदाहरणों से कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

- लोकतंत्र का जन-संघर्ष के जरिए विकास होता है। यह भी संभव है कि कुछ महत्वपूर्ण फ़ैसले आम सहमति से हो जाएँ और ऐसे फ़ैसलों के पीछे किसी तरह का संघर्ष न हो। फिर भी, इसे अपवाद ही कहा जाएगा। लोकतंत्र की निर्णायक घड़ी अमूमन वही होती है जब सत्ताधारियों और सत्ता में हिस्सेदारी चाहने वालों के बीच संघर्ष होता है। ऐसी घड़ी तब आती है जब कोई देश लोकतंत्र की ओर कदम बढ़ा रहा हो; उस देश में लोकतंत्र का विस्तार हो रहा हो अथवा वहाँ लोकतंत्र की जड़ें मज़बूत होने की प्रक्रिया में हों।
- लोकतांत्रिक संघर्ष का समाधान जनता की व्यापक लामबंदी के जरिए होता है। संभव है, कभी-कभी इस संघर्ष का समाधान मौजूदा संस्थाओं मसलन संसद अथवा न्यायपालिका के जरिए हो जाय। लेकिन, जब

क्या आप यह बताना चाहते हैं कि हड़ताल, धरना, प्रदर्शन और बंद जैसी चीज़ें अच्छी हैं? मैंने तो यही सोचा था कि ये सब सिर्फ़ हमारे देश में होते हैं क्योंकि अभी तक हमारा देश लोकतंत्र के लिहाज से परिपक्व नहीं हुआ।

विवाद ज़्यादा गहन होता है तो ये संस्थाएँ स्वयं उस विवाद का हिस्सा बन जाती है। ऐसे में समाधान इन संस्थाओं के जरिए नहीं बल्कि उनके बाहर यानी जनता के माध्यम से होता है।

- ऐसे संघर्ष और लामबंदियों का आधार राजनीतिक संगठन होते हैं। यह बात सच है कि ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं में स्वत:स्फूर्त होने का भाव भी कहीं न कहीं ज़रूर मौजूद होता है लेकिन जनता की स्वत:स्फूर्त सार्वजनिक भागीदारी संगठित राजनीति के ज़रिए कारगर हो पाती है। संगठित राजनीति के कई माध्यम हो सकते हैं। ऐसे माध्यमों में राजनीतिक दल, दबाव-समूह और आंदोलनकारी समूह शामिल हैं।

क्या इसका मतलब यह हुआ कि जिस पक्ष ने ज़्यादा संख्या में लोग जुटा लिए वह अपना चाहा हुआ सब कुछ हासिल कर लेगा? क्या हम यह मानें कि लोकतंत्र का मतलब जिसकी लाठी उसकी भैंस?

क्या समझा? क्या जाना?

सन् 1984 में कर्नाटक सरकार ने कर्नाटक पल्पवुड लिमिटेड नाम से एक कंपनी बनाई। इस कंपनी को लगभग 30,000 हेक्टेयर ज़मीन 40 सालों के लिए एक तरह से मुफ़्त में दे दी गई। इसमें से अधिकांश ज़मीन का इस्तेमाल किसान अपने पशुओं के लिए चरागाह के रूप में करते थे। कंपनी ने इस ज़मीन पर यूक्लिप्टस के पेड़ लगाने शुरू किए। इन पेड़ों का इस्तेमाल कागज़ बनाने की लुगदी तैयार करने के लिए किया जाना था। सन् 1987 में कित्तिको-हक्चिको (अर्थात् तोड़ो और रोपो) नाम का एक आंदोलन शुरू हुआ। इसमें अहिंसक प्रतिरोध का रास्ता अख्तियार किया गया। लोगों ने यूक्लिप्टस के पेड़ तोड़े और इनकी जगह वैसे पेड़ों के बिचड़े लगाए जो जनता के लिए फ़ायदेमंद थे।

नीचे कुछ समूहों के नाम दिए गए हैं। अगर आप इनमें से किसी भी समूह में होते तो अपने पक्ष के समर्थन में क्या दलील देते?

स्थानीय किसान, पर्यावरणवादी कार्यकर्ता, उपर्युक्त कंपनी में काम करने वाला अधिकारी अथवा कागज़ का उपभोक्ता।

लामबंदी और संगठन

आइए, हम ऊपर के दोनों उदाहरणों की तरफ़ लौटें और उन संगठनों की बात करें जिनके बूते ये संघर्ष सफल हुए। हमने देखा कि नेपाल में अनियतकालीन हड़ताल का आह्वान सात दलों के गठबंधन यानी एस.पी.ए. ने किया था। इस गठबंधन में ऐसे सात बड़े दल शामिल हुए जिनके कुछ न कुछ सदस्य संसद में थे। लेकिन, इस जन-संघर्ष के पीछे सिर्फ़ एस.पी.ए. ही नहीं था। इस संघर्ष में नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) ने भी भाग लिया जिसे संसदीय लोकतंत्र पर विश्वास नहीं है। यह पार्टी नेपाल की सरकार के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष चला रही थी और इसने नेपाल के एक बड़े हिस्से पर अपना नियंत्रण कर लिया था।

नेपाल के जन-संघर्ष में राजनीतिक दलों के अलावा अनेक संगठन शामिल थे। सभी बड़े मज़दूर संगठन और उनके परिसंघों ने इस आंदोलन में भाग लिया। अन्य अनेक संगठनों मसलन मूलवासी लोगों के संगठन तथा शिक्षक, वकील और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं के समूह ने इस आंदोलन को अपना समर्थन दिया।

पानी के निजीकरण के खिलाफ़ बोलिविया में जो आंदोलन चला उसकी अगुआई किसी राजनीतिक दल ने नहीं की। इस आंदोलन का नेतृत्व 'फेडेकोर' (FEDECOR)

मुझे यह 'लामबंदी' का जुमला पसंद नहीं आता। ऐसा जान पड़ता है मानों आदमी न हुए आलू के बोरे हों....

नामक संगठन ने किया। इस संगठन में इंजीनियर और पर्यावरणवादी समेत स्थानीय कामकाजी लोग शामिल थे। इस संगठन को सिंचाई पर निर्भर किसानों के एक संघ, कारखाना-मज़दूरों के संगठन के परिसंघ, कोचबंबा विश्वविद्यालय के छात्रों तथा शहर में बढ़ती बेघर-बार बच्चों की आबादी का समर्थन मिला। इस आंदोलन को 'सोशलिस्ट पार्टी' ने भी समर्थन दिया। सन् 2006 में बोलिविया में सोशलिस्ट पार्टी को सत्ता हासिल हुई।

इन दो उदाहरणों से हम जान सकते हैं कि एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में किसी संघर्ष के पीछे बहुत से संगठन होते हैं। ये संगठन दो तरह से अपनी भूमिका निभाते हैं। लोकतंत्र में किसी फ़ैसले पर असर डालने का एक जाना-पहचाना तरीका राजनीति में प्रत्यक्ष भागीदारी करने का होता है। इसके लिए पार्टी बनाई जाती है; चुनाव लड़ा जाता है और सरकार बनाई जाती है। लेकिन, हर नागरिक इतने प्रत्यक्ष ढंग से भागीदारी नहीं करता। संभव है, नागरिक की इच्छा न हो अथवा प्रत्यक्ष राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सेदारी की उसे ज़रूरत न महसूस होती हो। संभव है, उसके पास इसके लिए ज़रूरी कौशल का अभाव हो और वह ऐसे में सिर्फ़ मतदान करके प्रत्यक्ष राजनीति में अपनी हिस्सेदारी करता हो।

बहरहाल, ऐसे अनेक अप्रत्यक्ष तरीके हैं जिनके सहारे लोग सरकार से अपनी माँग अथवा नज़रिए का इज़हार कर सकते हैं। लोग इसके लिए संगठन बनाकर अपने हितों अथवा नज़रिए को बढ़ावा देने वाली गतिविधियाँ कर सकते हैं। इसे हित-समूह अथवा दबाव-समूह कहते हैं। कभी-कभी लोग बगैर संगठन बनाए अपनी माँगों के लिए एकजुट होने का फ़ैसला करते हैं। ऐसे समूहों को आंदोलन कहा जाता है।

दबाव-समूह और आंदोलन

बतौर संगठन दबाव-समूह सरकार की नीतियों को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं।

केशव, द हिंदू

Bhopal gas victims getting sub-standard drugs: NGOs

Pro-American tilt in foreign policy: AITUC

SEZs only way forward for job growth, says CII

Journalists protest against assault on photographer

RWAs hope that their side of the story will be heard too

Demand to ensure timely refund of VAT dues to Delhi's traders
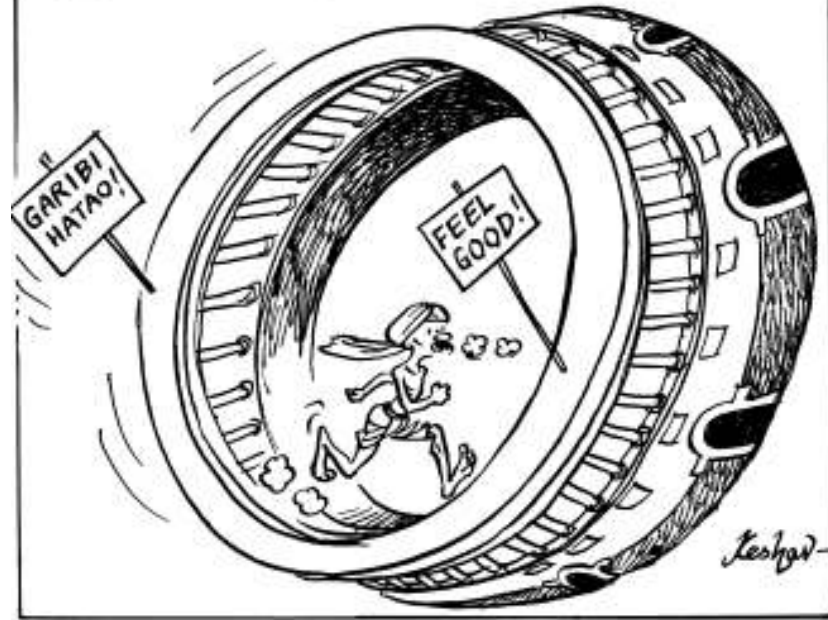
लेकिन, राजनीतिक पार्टियों के समान दबाव-समूह का लक्ष्य सत्ता पर प्रत्यक्ष नियंत्रण करने अथवा उसमें हिस्सेदारी करने का नहीं होता। दबाव-समूह का निर्माण तब होता है जब समान पेशे, हित, आकांक्षा अथवा मत के लोग एक समान उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एकजुट होते हैं।

ऊपर की चर्चा में हमारा सामना कुछ ऐसी बातों से हुआ जिन्हें हम संगठन नहीं कह सकते। नेपाल में हुए जन-संघर्ष को 'लोकतंत्र के लिए दूसरा आंदोलन' कहा गया था। हम अक्सर कई तरह की सामूहिक कार्रवाइयों के लिए जन-आंदोलन जैसा शब्द व्यवहार होता सुनते हैं, जैसे-नर्मदा बचाओ आंदोलन, सूचना के अधिकार का आंदोलन, शराब-विरोधी आंदोलन, महिला आंदोलन तथा पर्यावरण आंदोलन। दबाव-समूह के समान आंदोलन भी चुनावी मुकाबले में सीधे भागीदारी करने के बजाय राजनीति को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। लेकिन, दबाव-समूहों के विपरीत आंदोलनों में संगठन ढीला-ढाला होता है। आंदोलनों में फ़ैसले अनौपचारिक ढंग से लिए जाते हैं और ये फ़ैसले लचीले भी होते हैं। आंदोलन जनता की स्वत:स्फूर्त भागीदारी पर निर्भर होते हैं न कि दबाव-समूह पर।

वर्ग विशेष के हित-समूह और जन-सामान्य के हित-समूह

हित-समूह अमूमन समाज के किसी ख़ास हिस्से अथवा समूह के हितों को बढ़ावा देना चाहते हैं। मज़दूर संगठन, व्यावसायिक संघ और पेशेवरों (वकील, डॉक्टर, शिक्षक आदि)

अखबार की इन कतरनों में जिन दबाव-समूहों का ज़िक्र किया गया है, क्या आप उन्हें पहचान सकते हैं? वे क्या माँग कर रहे हैं?

ज़मीन के अधिकार को लेकर विरोध-प्रदर्शन : पश्चिमी जावा (इंडोनेशिया) के किसान। सन् 2004 में एक दिन पश्चिमी जावा (इंडोनेशिया) के लगभग 15,000 भूमिहीन किसान इंडोनेशिया की राजधानी जकार्ता पहुँचे। किसान अपने परिवार के साथ आए थे और भूमि-सुधार की माँग कर रहे थे। किसानों का कहना था कि हमें अपने 'फार्म' वापस लौटा दिए जाएँ। वे विश्व व्यापार संगठन और उसके विध्वंसक नियम-कानूनों का विरोध कर रहे थे। प्रदर्शनकारियों का नारा था-''ज़मीन नहीं तो वोट नहीं।'' उनका ऐलान था कि अगर किसी उम्मीदवार ने भूमि-सुधार का पक्ष नहीं लिया तो वे इंडोनेशिया में हो रहे राष्ट्रपति पद के पहले प्रत्यक्ष चुनाव का बहिष्कार करेंगे।

विकिपीडिया

के निकाय इस तरह के दबाव-समूह के उदाहरण हैं। ये दबाव-समूह वर्ग-विशेषी होते हैं क्योंकि ये समाज के किसी खास तबके मसलन मज़दूर, कर्मचारी, व्यवसायी, उद्योगपति, धर्म-विशेष के अनुयायी अथवा किसी खास जाति आदि का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे दबाव-समूह का मुख्य सरोकार पूरे समाज का नहीं बल्कि अपने सदस्यों की बेहतरी और कल्याण करना होता है।

कुछ संगठन समाज के किसी एक तबके के ही हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। ये संगठन सर्व-सामान्य हितों की नुमाइंदगी करते हैं जिनकी रक्षा ज़रूरी होती है। संभव है, ऐसा संगठन जिस उद्देश्य को पाना चाहता हो उससे इसके सदस्यों को कोई लाभ न हो। बोलिविया का 'फेडेकोर' (FEDECOR) नाम का संगठन ऐसे ही संगठन का उदाहरण है। नेपाल के मामले में हमने देखा कि वहाँ मानवाधिकार के संगठनों ने भी भागीदारी की थी। हमने ऐसे संगठनों के बारे में कक्षा-9 की किताब में पढ़ा था।

इन दूसरे किस्म के संगठनों को जन-सामान्य के हित-समूह अथवा लोक कल्याणकारी समूह कहते हैं। ऐसे संगठन किसी खास हित के बजाय सामूहिक हित का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका लक्ष्य अपने सदस्यों की नहीं बल्कि किन्हीं और की मदद करना होता है। मिसाल के लिए हम बँधुआ मज़दूरी के खिलाफ़ लड़ने वाले समूहों का नाम ले सकते हैं। ऐसे समूह अपनी भलाई के लिए नहीं बल्कि बँधुआ मज़दूरी के बोझ तले पिस रहे लोगों के लिए लड़ते हैं। कुछ मामलों में संभव है कि जन-सामान्य के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले समूह ऐसे उद्देश्य को साधने के लिए आगे आएँ जिससे बाकियों के साथ-साथ उन्हें भी फ़ायदा होता हो। उदाहरण के लिए 'बामसेफ' (बैकवर्ड एंड माइनॉरिटी कम्युनिटीज़ एम्पलाइज फेडरेशन-BAMCEF) का नाम लिया जा सकता है। यह मुख्यतया सरकारी कर्मचारियों का संगठन है जो जातिगत भेदभाव के खिलाफ़

अभियान चलाता है। यह संगठन जातिगत भेदभाव के शिकार अपने सदस्यों की समस्याओं को देखता है लेकिन इसका मुख्य सरोकार सामाजिक न्याय और पूरे समाज के लिए सामाजिक समानता को हासिल करना है।

आंदोलनकारी समूह

दबाव-समूह के समान किसी आंदोलन में कई तरह के समूह शामिल रहते हैं। ऊपर कुछ उदाहरण दिए गए हैं जिससे इनकी एक साधारण विशेषता का संकेत मिलता है। अधिकतर आंदोलन किसी खास मुद्दे पर केंद्रित होते हैं। ऐसे आंदोलन एक सीमित समय-सीमा के भीतर किसी एक लक्ष्य को पाना चाहते हैं। कुछ आंदोलन ज़्यादा सार्वभौम प्रकृति के होते हैं और एक व्यापक लक्ष्य को बहुत बड़ी समयावधि में हासिल करना चाहते हैं।

नेपाल में उठे लोकतंत्र के आंदोलन का विशिष्ट उद्देश्य था राजा को अपने आदेशों को वापस लेने के लिए बाध्य करना। इन आदेशों के द्वारा राजा ने लोकतंत्र को समाप्त कर दिया था। भारत में, नर्मदा बचाओ आंदोलन ऐसे आंदोलन का अच्छा उदाहरण है। नर्मदा नदी पर बनाए जा रहे सरदार सरोवर बाँध के कारण लोग विस्थापित हुए। यह आंदोलन इसी खास मुद्दे को लेकर शुरू हुआ। इसका उद्देश्य बाँध को बनने से रोकना था। धीरे-धीरे इस आंदोलन ने व्यापक रूप धारण किया। इसने सभी बड़े बाँधों और विकास के उस मॉडल पर सवाल उठाए जिसमें बड़े बाँधों को अनिवार्य साबित किया जाता है। ऐसे आंदोलनों में नेतृत्व बड़ा स्पष्ट होता है और उनका संगठन भी होता है लेकिन ऐसे आंदोलन बहुत थोड़े समय तक ही सक्रिय रह पाते हैं।

किसी एक मुद्दे पर आधारित ऐसे आंदोलनों के बरक्स उन आंदोलनों को रखा जा सकता है जो लंबे समय तक चलते हैं और जिनमें एक से ज़्यादा मुद्दे होते हैं। पर्यावरण के आंदोलन तथा महिला आंदोलन ठेठ ऐसे ही आंदोलनों की मिसाल हैं। ऐसे आंदोलनों के नियंत्रण अथवा दिशा-निर्देश के लिए कोई एक संगठन नहीं होता। पर्यावरण आंदोलन के अंतर्गत अनेक संगठन तथा खास-खास मुद्दे पर आधारित आंदोलन शामिल हैं। इनके सबके संगठन अलग-अलग हैं;

सामाजिक आंदोलन और दबाव-समूह नागरिकों को कई तरह से लामबंद करने की कोशिश करते हैं। इस कोलॉज में कुछ ऐसे ही तरीकों को दिखाया गया है।

सूचना का अधिकार कानून हाल ही में संसद ने पास किया है। इस कानून के क्रियान्वयन में बाधा पहुँचाते हुए यहाँ किसको दिखाया गया है?

नेतृत्व भी अलहदा है और नीतिगत मामलों पर अक्सर इनकी राय अलग-अलग होती है। इसके बावजूद एक व्यापक उद्देश्य के ये साझीदार हैं और इनका दृष्टिकोण एक जैसा है। इसी वजह से इन्हें एक आंदोलन यानी पर्यावरण आंदोलन का नाम दिया जाता है। कभी-कभी ऐसे व्यापक आंदोलनों का एक ढीला-ढाला सा सर्व-समावेशी संगठन होता है। मिसाल के लिए नेशनल अलायंस फॉर पीं'पल्स मूवमेंट (NAPM) ऐसा ही संगठनों का संगठन है। विभिन्न मुद्दों पर संघर्ष कर रहे अनेक आंदोलनकारी समूह इस संगठन के घटक हैं। यह संगठन अपने देश में अनेक जनांदोलनों की गतिविधियों में तालमेल बैठाने का काम करता है।

दबाव-समूह और आंदोलन राजनीति पर कैसे असर डालते हैं?

दबाव-समूह और आंदोलन राजनीति पर कई तरह से असर डालते हैं :

- दबाव-समूह और आंदोलन अपने लक्ष्य तथा गतिविधियों के लिए जनता का समर्थन और सहानुभूति हासिल करने की कोशिश करते हैं। इसके लिए सूचना अभियान चलाना, बैठक आयोजित करना अथवा अर्ज़ी दायर करने जैसे तरीकों का सहारा लिया जाता है। ऐसे अधिकतर समूह मीडिया को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं ताकि उनके मसलों पर मीडिया ज़्यादा ध्यान दे।
- ऐसे समूह अक्सर हड़ताल अथवा सरकारी कामकाज में बाधा पहुँचाने जैसे उपायों का

समाचार की इन कतरनों में किन सामाजिक आंदोलनों का ज़िक्र है? ये आंदोलन क्या प्रयास कर रहे हैं और समाज के किस तबके को लामबंद करने की कोशिश में जुटे हैं?

सहारा लेते हैं। मज़दूर संगठन, कर्मचारी संघ तथा अधिकतर आंदोलनकारी समूह अक्सर ऐसी युक्तियों का इस्तेमाल करते हैं कि सरकार उनकी माँगों की तरफ़ ध्यान देने के लिए बाध्य हो।

- व्यवसाय-समूह अक्सर पेशेवर 'लॉबिस्ट' नियुक्त करते हैं अथवा महँगे विज्ञापनों को प्रायोजित करते हैं। दबाव-समूह अथवा आंदोलनकारी समूह के कुछ व्यक्ति सरकार को सलाह देने वाली समितियों और आधिकारिक निकायों में शिरकत कर सकते हैं।

हालाँकि दबाव-समूह और आंदोलन दलीय राजनीति में सीधे भाग नहीं लेते लेकिन वे राजनीतिक दलों पर असर डालना चाहते हैं। अधिकतर आंदोलन किसी राजनीतिक दल से संबद्ध नहीं होते लेकिन उनका एक राजनीतिक पक्ष होता है। आंदोलनों की राजनीतिक विचारधारा होती है और बड़े मुद्दों पर उनका राजनीतिक पक्ष होता है। राजनीतिक दल और दबाव-समूह के बीच का रिश्ता कई रूप धारण कर सकता है जिसमें कुछ प्रत्यक्ष होते हैं तो कुछ अप्रत्यक्ष।

- कुछ मामलों में दबाव-समूह राजनीतिक दलों द्वारा ही बनाए गए होते हैं अथवा उनका नेतृत्व राजनीतिक दल के नेता करते हैं। कुछ दबाव-समूह राजनीतिक दल की एक शाखा के रूप में काम करते हैं। उदाहरण के लिए भारत के अधिकतर मज़दूर-संगठन और छात्र-संगठन या तो बड़े राजनीतिक दलों द्वारा बनाए गए हैं अथवा उनकी संबद्धता राजनीतिक दलों से है। ऐसे दबाव-समूहों के अधिकतर नेता अमूमन किसी न किसी राजनीतिक दल के कार्यकर्ता और नेता होते हैं।
- कभी-कभी आंदोलन राजनीतिक दल का रूप अख्तियार कर लेते हैं। उदाहरण के लिए 'विदेशी' लोगों के विरुद्ध छात्रों ने 'असम आंदोलन' चलाया और जब इस आंदोलन की समाप्ति हुई तो इस आंदोलन ने 'असम गण परिषद्' का रूप ले लिया। सन् 1930 और 1940 के दशक में तमिलनाडु में समाज-सुधार आंदोलन चले थे। डी.एम.के. और ए.आई.ए.डी.एम.के. जैसी पार्टियों की जड़ें इन समाज-सुधार आंदोलनों में ढूँढ़ी जा सकती हैं।
- अधिकांशतया दबाव-समूह और आंदोलन का राजनीतिक दलों से प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। दोनों परस्पर विरोधी पक्ष लेते हैं। फिर भी, इनके बीच संवाद कायम रहता है और सुलह की बातचीत चलती रहती है। आंदोलनकारी समूहों ने नए-नए मुद्दे उठाए हैं और राजनीतिक दलों ने इन मुद्दों को आगे बढ़ाया है। राजनीतिक दलों के अधिकतर नए नेता दबाव-समूह अथवा आंदोलनकारी समूहों से आते हैं।

क्या दबाव-समूह और आंदोलन के प्रभाव सकारात्मक होते हैं?

शुरुआती तौर पर लग सकता है कि किसी एक ही तबके के हितों की नुमाइंदगी करने वाले दबाव-समूह लोकतंत्र के लिए हितकर नहीं हैं। लोकतंत्र में किसी एक तबके के

दूरदर्शन – देश दर्शन

किसी भी समाचार चैनल के समाचार एक हफ़्ते तक लगातार देखें। निम्नलिखित क्षेत्र अथवा तबके का प्रतिनिधित्व करते आंदोलन अथवा दबाव-समूहों से जुड़ी ख़बरों का एक खाका तैयार करें : किसान, व्यापारी, मज़दूर, उद्योग, पर्यावरण और महिला। इनमें से किसका जिक्र टेलीविज़न के समाचारों में सबसे ज़्यादा हुआ? किस तबके अथवा हित-समूह का जिक्र समाचारों में सबसे कम हुआ? (टेलीविज़न की जगह आप अख़बार का भी इस्तेमाल कर सकते हैं।)

क्या समझा? क्या जाना?

ग्रीनबेल्ट (हरितपट्टी) मूवमेंट के अंतर्गत पूरे केन्या में 3 करोड़ वृक्ष लगाए गए। इस आंदोलन के नेता वांगरी मथाई सरकारी अधिकारियों और राजनेताओं के रुख से बड़े नाखुश हैं। उनका कहना है, ''सन् 1970 और 1980 के दशक में जब मैं किसानों को वृक्षारोपण के लिए उत्साहित कर रही थी तो मुझे पता चला कि सरकार के भ्रष्ट कर्मचारी ही वनों के अधिकांश विनाश के लिए ज़िम्मेदार हैं। इन लोगों ने अपने चहेते 'डेवलेपर्स' को जमीन और वृक्ष अवैध रूप से बेच रखे थे। सन् 1990 के दशक में राष्ट्रपति डेनियल अरेप मोई की सरकार के कुछ तत्वों ने जातीय समुदायों को ज़मीन के सवाल पर आपस में लड़वा दिया। इससे 'रिफ्ट वैली' के अनेक केन्यावासियों की आजीविका और अधिकार जाते रहे। कुछ को अपनी जान गँवानी पड़ी। शासक दल के समर्थकों को ज़मीन मिली और लोकतंत्र-समर्थक आंदोलन के पक्ष में बोलने वालों को विस्थापित होना पड़ा। यह सरकार की एक चाल थी जिसका उद्देश्य समुदायों को ज़मीन के सवाल पर आपस में लड़वाकर सत्ता पर कब्ज़ा जमाए रखना था। अगर वे एक-दूसरे से भिड़ते रहेंगे तो लोकतंत्र की माँग करने के लिए उनके पास कम मौके होंगे।''

ऊपर के अनुच्छेद में आपको लोकतंत्र और सामाजिक आंदोलन में क्या संबंध नज़र आ रहा है? इस आंदोलन को सरकार के प्रति क्या रवैया अपनाना चाहिए?

NEWS

एलेन लाऊजन फाल्कन-केगल कार्टूस

नहीं बल्कि सबके हितों की रक्षा होनी चाहिए। यह भी लग सकता है कि ऐसे समूह सत्ता का इस्तेमाल तो करना चाहते हैं लेकिन ज़िम्मेदारी से बचना चाहते हैं। राजनीतिक दलों को चुनाव के समय जनता का सामना करना पड़ता है लेकिन ये समूह जनता के प्रति जवाबदेह नहीं होते। संभव है कि दबाव-समूहों और आंदोलनों को जनता से समर्थन अथवा धन न मिले। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि दबाव-समूहों को बहुत कम लोगों का समर्थन प्राप्त हो लेकिन उनके पास धन ज़्यादा हो और इसके बूते अपने संकुचित एजेंडे पर वे सार्वजनिक बहस का रुख मोड़ने में सफल हो जाएँ।

लेकिन थोडा संतुलित नज़रिया अपनाएँ तो स्पष्ट होगा कि दबाव-समूहों और आंदोलनों के कारण लोकतंत्र की जड़ें मज़बूत हुई हैं। शासकों के ऊपर दबाव डालना लोकतंत्र में कोई अहितकर गतिविधि नहीं बशर्ते इसका अवसर सबको प्राप्त हो। सरकारें अक्सर थोड़े से धनी और ताकतवर लोगों के अनुचित दबाव में आ जाती हैं। जन-साधारण के हित-समूह तथा आंदोलन इस अनुचित दबाव के प्रतिकार में उपयोगी भूमिका निभाते हैं और आम नागरिक की ज़रूरतों तथा सरोकारों से सरकार को अवगत कराते हैं।

वर्ग-विशेषी हित-समूह भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जब विभिन्न समूह सक्रिय हों तो कोई एक समूह समाज के ऊपर प्रभुत्व कायम नहीं कर सकता। यदि कोई एक समूह सरकार के ऊपर अपने हित में नीति बनाने के लिए दबाव डालता है तो दूसरा समूह इसके प्रतिकार में दबाव डालेगा कि नीतियाँ उस तरह से न बनाई जाएँ। सरकार को भी ऐसे में पता चलता रहता है कि समाज के विभिन्न तबके क्या चाहते हैं। इससे परस्पर विरोधी हितों के बीच सामंजस्य बैठाना तथा शक्ति-संतुलन करना संभव होता है।

इस कार्टून का शीर्षक है 'खबर-बेखबर' मीडिया में अक्सर किसकी चर्चाएँ चलती हैं? अख़बारों में ज़्यादातर किनके बारे में लिखा गया होता है?

1. दबाव-समूह और आंदोलन राजनीति को किस तरह प्रभावित करते हैं?
2. दबाव-समूहों और राजनीतिक दलों के आपसी संबंधों का स्वरूप कैसा होता है, वर्णन करें।
3. दबाव-समूहों की गतिविधियाँ लोकतांत्रिक सरकार के कामकाज में कैसे उपयोगी होती हैं?
4. दबाव-समूह क्या हैं? कुछ उदाहरण बताइए।
5. दबाव-समूह और राजनीतिक दल में क्या अंतर है?
6. जो संगठन विशिष्ट सामाजिक वर्ग जैसे मज़दूर, कर्मचारी, शिक्षक और वकील आदि के हितों को बढ़ावा देने की गतिविधियाँ चलाते हैं उन्हें ----------- कहा जाता है।
7. निम्नलिखित में किस कथन से स्पष्ट होता है कि दबाव-समूह और राजनीतिक दल में अंतर होता है –
   (क) राजनीतिक दल राजनीतिक पक्ष लेते हैं जबकि दबाव-समूह राजनीतिक मसलों की चिंता नहीं करते।
   (ख) दबाव-समूह कुछ लोगों तक ही सीमित होते हैं जबकि राजनीतिक दल का दायरा ज़्यादा लोगों तक फैला होता है।
   (ग) दबाव-समूह सत्ता में नहीं आना चाहते जबकि राजनीतिक दल सत्ता हासिल करना चाहते हैं।
   (घ) दबाव-समूह लोगों की लामबंदी नहीं करते जबकि राजनीतिक दल करते हैं।
8. सूची-I (संगठन और संघर्ष) का मिलान सूची-II से कीजिए और सूचियों के नीचे दी गई सारणी से सही उत्तर चुनिए :

	सूची-I	**सूची-II**
1	किसी विशेष तबके या समूह के हितों को बढ़ावा देने वाले संगठन	(क) आंदोलन
2	जन-सामान्य के हितों को बढ़ावा देने वाले संगठन	(ख) राजनीतिक दल
3	किसी सामाजिक समस्या के समाधान के लिए चलाया गया एक ऐसा संघर्ष जिसमें सांगठनिक संरचना हो भी सकती है और नहीं भी।	(ग) वर्ग-विशेष के हित समूह
4	ऐसा संगठन जो राजनीतिक सत्ता पाने की गरज़ से लोगों को लामबंद करता है।	(घ) लोक कल्याणकारी हित समूह

	1	2	3	4
(क)	ग	घ	ख	क
(ख)	ग	घ	क	ख
(ग)	घ	ग	ख	क
(घ)	ख	ग	घ	क

9. सूची I का सूची II से मिलान करें जो सूचियों के नीचे दी गई सारणी में सही उत्तर हो चुनें :

	सूची I	**सूची II**
1	दबाव सूमह	(क) नर्मदा बचाओ आंदोलन
2	लंबी अवधि का आंदोलन	(ख) असम गण परिषद्
3	एक मुद्दे पर आधारित आंदोलन	(ग) महिला आंदोलन
4	राजनीतिक दल	(घ) खाद विक्रेताओं का संघ

	1	2	3	4
(अ)	घ	ग	क	ख
(ब)	ख	क	घ	ग
(स)	ग	घ	ख	क
(द)	ख	घ	ग	क

10. दबाव-समूहों और राजनीतिक दलों के बारे में निम्नलिखित कथनों पर विचार कीजिए।

(क) दबाव-समूह समाज के किसी खास तबके के हितों की संगठित अभिव्यक्ति होते हैं।

(ख) दबाव-समूह राजनीतिक मुद्दों पर कोई न कोई पक्ष लेते हैं।

(ग) सभी दबाव-समूह राजनीतिक दल होते हैं।

अब नीचे दिए गए विकल्पों में से सही विकल्प चुनें –

(अ) क, ख और ग (ब) क और ख (स) ख और ग (द) क और ग

11. मेवात हरियाणा का सबसे पिछड़ा इलाका है। यह गुड़गाँव और फ़रीदाबाद ज़िले का हिस्सा हुआ करता था। मेवात के लोगों को लगा कि इस इलाके को अगर अलग ज़िला बना दिया जाय तो इस इलाके पर ज़्यादा ध्यान जाएगा। लेकिन, राजनीतिक दल इस बात में कोई रुचि नहीं ले रहे थे। सन् 1996 में मेवात एजुकेशन एंड सोशल आर्गेनाइजेशन तथा मेवात साक्षरता समिति ने अलग ज़िला बनाने की माँग उठाई। बाद में सन् 2000 में मेवात विकास सभा की स्थापना हुई। इसने एक के बाद एक कई जन-जागरण अभियान चलाए। इससे बाध्य होकर बड़े दलों यानी कांग्रेस और इंडियन नेशनल लोकदल को इस मुद्दे को अपना समर्थन देना पड़ा। उन्होंने फ़रवरी 2005 में होने वाले विधान सभा के चुनाव से पहले ही कह दिया कि नया ज़िला बना दिया जाएगा। नया ज़िला सन् 2005 की जुलाई में बना।

इस उदाहरण में आपको आंदोलन, राजनीतिक दल और सरकार के बीच क्या रिश्ता नज़र आता है? क्या आप कोई ऐसा उदाहरण दे सकते हैं जो इससे अलग रिश्ता बताता हो?

राजनीतिक दल

अध्याय 6

परिचय

लोकतंत्र की अपनी इस यात्रा में हमने कई बार राजनीतिक दलों की चर्चा की है। कक्षा 9 में हमने देखा था कि लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को बनाने, संविधान रचने, चुनावी राजनीति और सरकार के गठन तथा संचालन में राजनीतिक दलों की भूमिका होती है । इस पाठ्यपुस्तक में हमने राजनीतिक दलों की सत्ता के बँटवारे के वाहक और लोकतांत्रिक राजनीति में सामाजिक समूहों की तरफ़ से मोल-तोल करने वाले माध्यम के रूप में चर्चा की है। इस यात्रा को समाप्त करने से पहले, आइए, राजनीतिक दलों की प्रकृति और कामकाज के बारे में करीब से जानने की कोशिश करें – खासकर अपने देश के राजनीतिक दलों के बारे में । हमें दलों की ज़रूरत क्यों है ? लोकतंत्र के लिए कितने दलों का होना बेहतर है ? इसी संदर्भ में हम मौजूदा समय के राष्ट्रीय और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का परिचय देंगे और साथ ही यह देखने का प्रयास करेंगे कि राजनीतिक दलों के साथ क्या खामियाँ जुड़ी हैं और उन्हें दूर करने के लिए क्या किया जा सकता है।

राजनीतिक दलों की ज़रूरत क्यों?

...तो, आप मुझसे सहमत हैं कि दल पक्षपाती होते हैं; भेदभाव और फूट डालते हैं। दल लोगों को बाँटने के अलावा और कुछ नहीं करते! यही उनका असली काम है!

किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था की संस्थाओं में राजनीतिक दल अलग से दिखाई देते हैं। अधिकतर आम नागरिकों के लिए लोकतंत्र का मतलब राजनीतिक दल ही है। अगर आप देश के दूर-दराज के और ग्रामीण इलाकों में जाएँ और कम पढ़े-लिखे लोगों से बात करें तो संभव है कि आपको ऐसे लोग मिलें जिन्हें संविधान के बारे में या सरकार के स्वरूप के बारे में कुछ भी मालूम न हो। बहरहाल, राजनीतिक दलों के बारे में उन्हें ज़रूर कुछ न कुछ मालूम होता है। लेकिन पार्टियों के बारे में हर कोई कुछ न कुछ जानता है तो इसका मतलब यह नहीं कि पार्टियाँ बहुत लोकप्रिय हैं। अधिकतर लोग आम तौर पर दलों के बारे में खराब राय रखते हैं। अपनी लोकतांत्रिक व्यवस्था और राजनीतिक जीवन की हर बुराई के लिए वे दलों को ही ज़िम्मेवार मानते हैं। सामाजिक और राजनीतिक विभाजनों के लिए भी दलों को ही दोषी माना जाता है।

ऐसे में यह सवाल स्वाभाविक रूप से उठता है : क्या हमें सचमुच राजनीतिक दलों की ज़रूरत है? करीब 100 साल पहले दुनिया के बस कुछ ही देशों में और वह भी गिनती के राजनीतिक दल थे। आज गिनती के ही देश ऐसे हैं जहाँ राजनीतिक दल नहीं हैं। दुनिया-भर के लोकतांत्रिक देशों में राजनीतिक दल इतने सर्वव्यापी क्यों हो गए? आइए, सबसे पहले इस सवाल का जवाब दें कि राजनीतिक दल क्या हैं और वे क्या करते हैं। उनकी ज़रूरत पर चर्चा इसके बाद होगी।

राजनीतिक दल का अर्थ

राजनीतिक दल को लोगों के एक ऐसे संगठित समूह के रूप में समझा जा सकता है जो चुनाव लड़ने और सरकार में राजनीतिक सत्ता हासिल करने के उद्देश्य से काम करता है। समाज के सामूहिक हित को ध्यान में रखकर यह समूह कुछ नीतियाँ और कार्यक्रम तय करता है। सामूहिक हित एक विवादास्पद विचार है। इसे लेकर सबकी राय अलग-अलग

(1) एम. गोवर्द्धन (2) ए. मुरलीधरन (3) एम. मूर्ति (4) टी. सिंगारवेलु, द हिंदू

चुनाव आयोग ने चुनाव के समय दीवार-लेखन पर रोक लगा दी है। अधिकांश दलों का कहना है कि यह चुनाव प्रचार का सबसे सस्ता तरीका था। चुनाव के समय दीवारों का नज़ारा देखने लायक होता था। यहाँ तमिलनाडु से दीवार-लेखन के कुछ उदाहरण दिए गए हैं।

आर के लक्ष्मण–ब्रशिंग अप द इयर्स

होती है। इसी आधार पर दल लोगों को यह समझाने का प्रयास करते हैं कि उनकी नीतियाँ औरों से बेहतर हैं। वे लोगों का समर्थन पाकर चुनाव जीतने के बाद उन नीतियों को लागू करने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार दल किसी समाज के बुनियादी राजनीतिक विभाजन को भी दर्शाते हैं। पार्टी समाज के किसी एक हिस्से से संबंधित होती है इसलिए उसका नज़रिया समाज के उस वर्ग/समुदाय विशेष की तरफ़ झुका होता है। किसी दल की पहचान उसकी नीतियों और उसके सामाजिक आधार से तय होती है। राजनीतिक दल के तीन प्रमुख हिस्से हैं :

- नेता
- सक्रिय सदस्य; और
- अनुयायी या समर्थक

राजनीतिक दल के कार्य

राजनीतिक दल क्या करते हैं? मूलतः राजनीतिक दल राजनीतिक पदों को भरते हैं और राजनीतिक सत्ता का इस्तेमाल करते हैं। दल इस काम को कई तरह से करते हैं –

1 दल चुनाव लड़ते हैं। अधिकांश लोकतांत्रिक देशों में चुनाव राजनीतिक दलों द्वारा खड़ा किए गए उम्मीदवारों के बीच लड़ा जाता है। राजनीतिक दल उम्मीदवारों का चुनाव कई तरीकों से करते हैं। अमरीका जैसे कुछ देशों में उम्मीदवार का चुनाव दल के सदस्य और समर्थक करते हैं। अब इस तरह से उम्मीदवार चुनने वाले देशों की संख्या बढ़ती जा रही है। अन्य देशों, जैसे भारत में, दलों के नेता ही उम्मीदवार चुनते हैं।

2 दल अलग-अलग नीतियों और कार्यक्रमों को मतदाताओं के सामने रखते हैं और मतदाता अपनी पसंद की नीतियाँ और कार्यक्रम चुनते हैं। देश के लिए कौन-सी नीतियाँ ठीक हैं – इस बारे में हममें से सभी की राय अलग-अलग हो सकती है। पर कोई भी सरकार इतने अलग-अलग विचारों को एक साथ लेकर नहीं चल सकती। लोकतंत्र में समान या मिलते-जुलते विचारों को एक साथ लाना होता है ताकि सरकार की नीतियों को एक दिशा दी जा सके। पार्टियाँ यही काम करती हैं। पार्टियाँ तरह-तरह के विचारों

को कुछ बुनियादी राय तक समेट लाती हैं जिनका वे समर्थन करती हैं। सरकार प्राय: शासक दल की राय के अनुरूप अपनी नीतियाँ तय करती है।

3 पार्टियाँ देश के कानून निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाती हैं। कानूनों पर औपचारिक बहस होती है और उन्हें विधायिका में पास करवाना पड़ता है लेकिन विधायिका के अधिकतर सदस्य किसी न किसी दल के सदस्य होते हैं। इस कारण वे अपने दल के नेता के निर्देश पर फ़ैसला करते हैं।

4 दल ही सरकार बनाते और चलाते हैं। हमने पिछले साल पढ़ा था कि नीतियों और बड़े फ़ैसलों के मामले में निर्णय राजनेता ही लेते हैं और ये नेता विभिन्न दलों के होते हैं। पार्टियाँ नेता चुनती हैं, उनको प्रशिक्षित करती हैं और फिर पार्टी के सिद्धांतों और कार्यक्रम के अनुसार फ़ैसले करने के लिए उन्हें मंत्री बनाती हैं ताकि वे पार्टी की इच्छा के अनुसार सरकार चला सकें।

ठीक है, मान लिया कि हम दलों के बगैर नहीं रह सकते। पर ज़रा यह बताइए कि इस तरह के दलों के साथ हम रह कैसे सकते हैं?

5 चुनाव हारने वाले दल शासक दल के विरोधी पक्ष की भूमिका निभाते हैं। सरकार की गलत नीतियों और असफलताओं की आलोचना करने के साथ वह अपनी अलग राय भी रखते हैं। विपक्षी दल सरकार के खिलाफ़ आम जनता को भी गोलबंद करते हैं।

6 जनमत-निर्माण में दल महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे मुद्दों को उठाते और उन पर बहस करते हैं। विभिन्न दलों के लाखों कार्यकर्ता देश-भर में बिखरे होते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों में उनके मित्र संगठन या दबाव समूह भी काम करते रहते हैं। दल कई दफ़े लोगों की समस्याओं को लेकर आंदोलन भी करते हैं। अक्सर विभिन्न दलों द्वारा रखी जाने वाली राय के इर्द-गिर्द ही समाज के लोगों की राय बनती जाती है।

7 दल ही सरकारी मशीनरी और सरकार द्वारा चलाए जाने वाले कल्याण कार्यक्रमों तक लोगों की पहुँच बनाते हैं। एक साधारण नागरिक के लिए किसी सरकारी अधिकारी की तुलना में किसी राजनीतिक कार्यकर्ता से जान-पहचान बनाना, उससे संपर्क साधना आसान होता है। इसी कारण लोग दलों पर पूरा विश्वास न करते हुए भी उन्हें अपने करीब मानते हैं। दलों को भी हर हाल में लोगों की माँगों और ज़रूरतों पर ध्यान देना होता है वरना अगले चुनाव में लोग उन्हें धूल चटा सकते हैं।

शासक दल : जिस दल का शासन हो यानी जिसकी सरकार बनी हो।

राजनीतिक दल की ज़रूरत

दलों के काम की इस सूची से उस सवाल का जवाब मिलता है जो इस खंड की शुरुआत में पूछा गया था। दरअसल हमें राजनीतिक दलों की ज़रूरत इन्हीं कामों के लिए है। पर हमें अभी भी इस सवाल को पूछने की ज़रूरत है कि आधुनिक लोकतंत्र राजनीतिक दलों के बिना क्यों नहीं चल सकता? दलों के बिना क्या स्थिति होगी – इसकी कल्पना करके ही हम उनकी ज़रूरत को समझ सकते हैं। अगर दल न हों तो सारे उम्मीदवार स्वतंत्र या निर्दलीय होंगे। तब, इनमें से कोई भी बड़े नीतिगत बदलाव के बारे में लोगों से चुनावी वायदे करने की स्थिति में नहीं होगा। सरकार बन जाएगी पर उसकी उपयोगिता संदिग्ध होगी। निर्वाचित प्रतिनिधि सिर्फ़ अपने निर्वाचन क्षेत्रों में किए गए कामों के लिए जवाबदेह होंगे। लेकिन, देश कैसे चले इसके लिए कोई उत्तरदायी नहीं होगा।

हम गैर-दलीय आधार पर होने वाले पंचायत चुनावों का उदाहरण सामने रखकर भी इस बात की परख कर सकते हैं। हालाँकि इन चुनावों में दल औपचारिक रूप से अपने उम्मीदवार नहीं खड़े करते लेकिन हम पाते हैं कि चुनाव के अवसर पर पूरा गाँव कई खेमों में बँट जाता है और हर खेमा सभी पदों के लिए अपने उम्मीदवारों का 'पैनल' उतारता है। राजनीतिक दल भी ठीक यही काम करते हैं। यही कारण है कि हमें दुनिया के लगभग सभी देशों में राजनीतिक दल नज़र आते हैं – चाहे वह देश बड़ा हो या छोटा, नया हो या पुराना, विकसित हो या विकासशील।

राजनीतिक दलों का उदय प्रतिनिधित्व पर आधारित लोकतांत्रिक व्यवस्था के उभार के साथ जुड़ा है। हम पढ़ चुके हैं कि बड़े समाजों के लिए प्रतिनिधित्व आधारित लोकतंत्र की ज़रूरत होती है। जब समाज बड़े और जटिल हो जाते हैं तब उन्हें विभिन्न मुद्दों पर अलग-अलग विचारों को समेटने और सरकार की नज़र में लाने के लिए किसी माध्यम या एजेंसी की ज़रूरत होती है। विभिन्न जगहों से आए प्रतिनिधियों को साथ करने की ज़रूरत होती है ताकि एक ज़िम्मेवार सरकार का गठन हो सके। उन्हें सरकार का समर्थन करने या उस पर अंकुश रखने, नीतियाँ बनवाने और नीतियों का समर्थन अथवा विरोध करने के लिए उपकरणों की ज़रूरत होती है। प्रत्येक प्रतिनिधि-सरकार की ऐसी जो भी ज़रूरतें होती हैं, राजनीतिक दल उनको पूरा करते हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि राजनीतिक दल लोकतंत्र की एक अनिवार्य शर्त हैं।

राजनीतिक दलों की गतिविधियाँ दर्शाने वाली इन तस्वीरों का वर्गीकरण करें। ऊपर बताई गई गतिविधयों से संबंधित अपने इलाके की कोई तस्वीर या खबर की कतरन ढूँढ़िए।

(1) पी.वी. सुब्रह्मण्यम (2) के. गोपीनाथन (3) आर.आर. कोनवार (4) ए. चक्रवर्ती, द हिंदू से साभार

1. भाजपा महिला मोर्चा की कार्यकर्ता प्याज और रसोई गैस की कीमतें बढ़ने के विरोध में प्रदर्शन करती हुईं।
2. ज़हरीली शराब पीने से मरे व्यक्तियों के परिवारों को एक लाख रुपए का चेक देते मंत्री।
3. कोरिया की कंपनी पोस्को को ओडिसा से लौह अयस्क निर्यात करने की अनुमति देने पर राज्य सरकार के खिलाफ़ माकपा, भाकपा, ओ जी पी और जद (एस) के कार्यकर्ता जुलूस निकालते हुए।

कितने राजनीतिक दल?

लोकतंत्र में नागरिकों का कोई भी समूह राजनीतिक दल बना सकता है। इस औपचारिक अर्थ में सभी देशों में बहुत से राजनीतिक दल हैं। भारत में ही चुनाव आयोग में नाम पंजीकृत कराने वाले दलों की संख्या 750 से ज़्यादा है। लेकिन, हर दल चुनाव में गंभीर चुनौती देने की स्थिति में नहीं होता। चुनाव जीतने और सरकार बनाने की होड़ में आमतौर पर कुछेक पार्टियाँ ही सक्रिय होती हैं। ऐसे में सवाल यह उठता है कि लोकतंत्र की बेहतरी के लिए कितने दलों का होना अच्छा है?

कई देशों में सिर्फ़ एक ही दल को सरकार बनाने और चलाने की अनुमति है।

राजनीति की नैतिक ताकत!

एक वैकल्पिक राजनीतिक ढाँचा खड़ा करने की बात से किशनजी का क्या मतलब था? सुधा, करुणा, शाहीन और ग्रेसी की बातचीत के क्रम में यह सवाल उठा। ये चारों महिलाएँ देश के अलग-अलग हिस्सों में चल रहे मज़बूत जनांदोलनों से जुड़ी थीं। ये चारों ओड़िसा के एक गाँव में बैठी थीं और जनांदोलनों के भविष्य पर नए सिरे से विचार कर रही थीं और यहाँ उनको आंदोलनों के रोज़-रोज़ के कामों की चिक-चिक भी परेशान नहीं कर रही थी।

स्वाभाविक तौर पर बातें किशनजी की तरफ़ मुड़ीं जिन्हें देश-भर की आंदोलनकारी जमातें अपना मित्र, राजनीतिक दार्शनिक और नैतिक मार्गदर्शक मानती थीं। किशनजी का तर्क था कि जनांदोलन के लोग चुनावी राजनीति में सीधी हिस्सेदारी करें। यह एक सरल लेकिन ताकतवर तर्क था। एक मुद्दे पर केंद्रित आंदोलन से जीवन के एक क्षेत्र में तो कुछ बदलाव लाया जा सकता है लेकिन अगर हम बुनियादी सामाजिक बदलाव या जीवन के किसी एक पहलू में भी बुनियादी बदलाव चाहते हैं तब हमें एक राजनीतिक संगठन की ज़रूरत होगी। जनांदोलनों को राजनीति में एक नैतिक ताकत के तौर पर एक नया राजनीतिक संगठन बनाना चाहिए। उन्होंने कहा कि यह तक तात्कालिक ज़रूरत है क्योंकि सारे राजनीतिक दल सामाजिक बदलाव के लिए अप्रासंगिक हो चुके हैं।

ग्रेसी ने कहा, "लेकिन किशनजी ने कभी स्पष्ट नहीं किया कि यह संगठन कैसा होगा। उन्होंने सिर्फ़ राजनीतिक विकल्प या राजनीति में तीसरी शक्ति की बात की। पर क्या उनके ऐसा कहने का आशय एक राजनीतिक दल बनाने से था" ग्रेसी का मानना था कि पुराने ढर्रे का राजनीतिक दल सामाजिक बदलाव लाने में समर्थ नहीं है।"

सुधा उसकी बात से सहमत थी – "मैंने इस विषय पर कई बार विचार किया है। मैं मानती हूँ कि हमने आज तक विस्थापन, भूमंडलीकरण, जातिगत और लैंगिक उत्पीड़न या विकास के वैकल्पिक माडल के लिए जितने आंदोलन खड़े किए हैं, वे राजनीतिक ही हैं, पर जैसे ही हम कोई दल बनाएँगे, हमारी इतने वर्षों की प्रतिष्ठा चौपट हो जाएगी। तब लोग हमें नेताओं से अलग नहीं मानेंगे।"

करुणा ने बीच में ही कहा, "फिर हमने यह भी देखा है कि मौजूदा दलों पर दबाव बनाकर भी काफ़ी कुछ हासिल किया जा सकता है। हमने पंचायत चुनावों में अपने उम्मीदवार उतारे थे लेकिन नतीजे उत्साहजनक नहीं रहे। लोग हमारे काम का आदर करते हैं, वे हमें अच्छा भी मानते हैं लेकिन जब वोट देने की बात आती है तो वे स्थापित दलों को ही वोट देते हैं।"

ज़ुबान

शाहीन उनसे सहमत नहीं थी : "देखिए, बात बहुत साफ़ है। किशनजी चाहते थे कि सभी जनांदोलन मिलकर एक नयी राजनीतिक पार्टी बनाएँ, हाँ, वे इस पार्टी को दूसरों से एकदम अलग रंग रूप में देखना चाहते थे। वे राजनीतिक विकल्प बनाने की जगह वैकल्पिक किस्म की राजनीति चाहते थे।"

किशनजी अब इस दुनिया में नहीं हैं। इन चारों कार्यकर्ताओं के बारे में आपकी क्या राय है? क्या उन्हें नया राजनीतिक दल बनाना चाहिए? क्या कोई राजनीतिक दल राजनीति में नैतिक बल बन सकता है? यह दल कैसा होना चाहिए?

इस कारण उन्हें एकदलीय शासन-व्यवस्था कहा जाता है। कक्षा 9 में हमने देखा था कि चीन में सिर्फ़ कम्युनिस्ट पार्टी को शासन करने की अनुमति है। हालाँकि कानूनी रूप से वहाँ भी लोगों को राजनीतिक दल बनाने की आज़ादी है पर वहाँ की चुनाव प्रणाली सत्ता के लिए स्वतंत्र प्रतिद्वंद्विता की अनुमति नहीं देती इसलिए लोगों को नया राजनीतिक दल बनाने का कोई लाभ नहीं दिखता और इसलिए कोई नया दल नहीं बन पाता। हम एकदलीय व्यवस्था को अच्छा विकल्प नहीं मान सकते क्योंकि यह लोकतांत्रिक विकल्प नहीं है। किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में कम से कम दो दलों को राजनीतिक सत्ता के लिए चुनाव में प्रतिद्वंद्विता करने की अनुमति तो होनी ही चाहिए। साथ ही उन्हें सत्ता में आ सकने का पर्याप्त अवसर भी रहना चाहिए।

कुछ देशों में सत्ता आमतौर पर दो मुख्य दलों के बीच ही बदलती रहती है। वहाँ अनेक दूसरी पार्टियाँ हो सकती हैं, वे भी चुनाव लड़कर कुछ सीटें जीत सकती हैं पर सिर्फ़ दो ही दल बहुमत पाने और सरकार बनाने के प्रबल दावेदार होते हैं। अमरीका और ब्रिटेन में ऐसी ही दो दलीय व्यवस्था है।

जब अनेक दल सत्ता के लिए होड़ में हों और दो दलों से ज़्यादा के लिए अपने दम पर या दूसरों से गठबंधन करके सत्ता में आने का ठीक-ठाक अवसर हो तो इसे बहुदलीय व्यवस्था कहते हैं। भारत में भी ऐसी ही बहुदलीय व्यवस्था है। इस व्यवस्था में कई दल गठबंधन बनाकर भी सरकार बना सकते हैं। जब किसी बहुदलीय व्यवस्था में अनेक पार्टियाँ चुनाव लड़ने और सत्ता में आने के लिए आपस में हाथ मिला लेती हैं तो इसे गठबंधन या मोर्चा कहा जाता है। जैसे, 2004 के संसदीय चुनाव में भारत में ऐसे तीन प्रमुख गठबंधन थे : राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन, संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन और वाम मोर्चा। अक्सर बहुदलीय व्यवस्था बहुत घालमेल वाली लगती है और देश को राजनीतिक अस्थिरता की तरफ़ ले जाती है पर इसके साथ ही इस प्रणाली में विभिन्न हितों और विचारों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

तो, इनमें से कौन सी प्रणाली बेहतर है? अक्सर पूछे जाने वाले इस सवाल का संभवतः सबसे अच्छा जवाब यही होगा कि यह कोई बहुत अच्छा सवाल नहीं है। दलीय व्यवस्था का चुनाव करना किसी मुल्क के हाथ में नहीं है। यह एक लंबे दौर के कामकाज के बाद खुद विकसित होती है और इसमें समाज की प्रकृति, इसके राजनीतिक विभाजन, राजनीति का इतिहास और इसकी चुनाव प्रणाली – सभी चीज़ें अपनी भूमिका निभाती हैं। इसे बहुत जल्दी बदला नहीं जा सकता। हर देश अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुरूप दलीय व्यवस्था विकसित करता है। जैसे, अगर भारत में बहुदलीय व्यवस्था है तो उसका कारण यह है कि दो-तीन पार्टियाँ इतने बड़े मुल्क की सारी सामाजिक और भौगोलिक विविधताओं को समेट पाने में अक्षम हैं। हर मुल्क और हर स्थिति में कोई एक ही आदर्श प्रणाली चले यह संभव नहीं है।

दलों की यह भरमार मुझे नहीं जँचती। बड़ी अफ़रा-तफरी मची रहती है। ये नेता गठबंधन जैसी चीज़ को कैसे बना-संभाल लेते हैं? मुझे तो सारी पार्टियों के नाम तक याद नहीं रहते!

आइए, दलीय व्यवस्था के बारे में हमने जो जाना उसे भारत के विभिन्न राज्यों पर लागू करें। यहाँ राज्य स्तर पर मौजूद तीन तरह की दलीय व्यवस्थाएँ दी गई हैं। क्या आप इन श्रेणियों के लिए कम से कम दो-दो राज्यों के नाम बता सकते हैं।

- दो दलीय व्यवस्था
- दो गठबंधनों वाली बहुदलीय व्यवस्था
- बहुदलीय व्यवस्था

राजनीतिक दलों में जन-भागीदारी

अक्सर कहा जाता है कि राजनीतिक दल संकट से गुज़र रहे हैं क्योंकि जनता उन्हें सम्मान की नज़र से नहीं देखती। उपलब्ध प्रमाण बताते हैं कि यह बात आंशिक रूप से ही सही है। बड़े नमूनों पर आधारित और कई दशकों तक चले सर्वेक्षण के तथ्य बताते हैं कि :

दक्षिण एशिया की जनता राजनीतिक दलों पर बहुत भरोसा नहीं करती। जो लोग दलों पर 'एकदम भरोसा नहीं' 'बहुत भरोसा नहीं' के पक्ष में बोले उनका अनुपात 'कुछ भरोसा' या 'पूरा भरोसा' बताने वालों से काफ़ी ज़्यादा था।

यही बात ज़्यादातर लोकतंत्रों पर लागू होती है। पूरी दुनिया में राजनीतिक दल ही एक ऐसी संस्था है जिस पर लोग सबसे कम भरोसा करते हैं।

बहरहाल, राजनीतिक दलों के कामकाज में लोगों की भागीदारी का स्तर काफ़ी ऊँचा है। खुद को किसी राजनीतिक दल का सदस्य बताने वाले भारतीयों का अनुपात कनाडा, जापान, स्पेन और दक्षिण कोरिया जैसे विकसित देशों से भी ज़्यादा है।

पिछले तीन दशकों के दौरान भारत में राजनीतिक दलों की सदस्यता का अनुपात धीरे-धीरे बढ़ता गया है।

खुद को किसी राजनीतिक दल का करीबी बताने वालों का अनुपात भी इस अवधि में बढ़ता गया है।
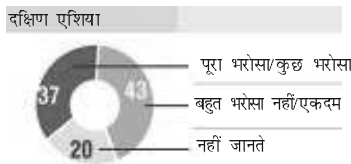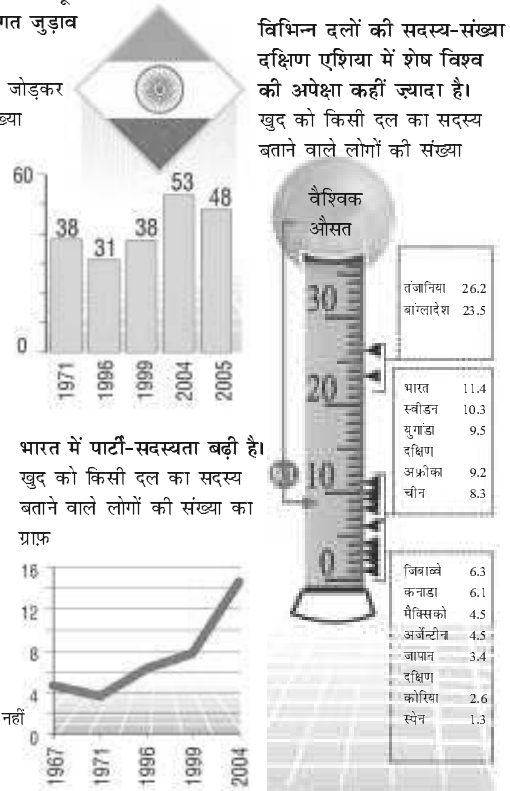
स्रोत : एसडीएसए टीम, स्टेट ऑव डेमोक्रेसी इन साऊथ एशिया, दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2007

क्या ये कार्टून पिछले पन्ने पर दिए गए आँकड़ों के ग्राफ से मेल खाते हैं?

राष्ट्रीय राजनीतिक दल

विश्व के संघीय व्यवस्था वाले लोकतंत्रों में दो तरह के राजनीतिक दल हैं : संघीय इकाइयों में से सिर्फ़ एक इकाई में अस्तित्व रखने वाले दल और अनेक या संघ की सभी इकाइयों में अस्तित्व रखने वाले दल। भारत में भी यही स्थिति है। कई पार्टियाँ पूरे देश में फैली हुई हैं और उन्हें राष्ट्रीय पार्टी कहा जाता है। इन दलों की विभिन्न राज्यों में इकाइयाँ हैं। पर कुल मिलाकर देखें तो ये सारी इकाइयाँ राष्ट्रीय स्तर पर तय होने वाली नीतियों, कार्यक्रमों और रणनीतियों को ही मानती हैं।

देश की हर पार्टी को चुनाव आयोग में अपना पंजीकरण कराना पड़ता है। आयोग सभी दलों को समान मानता है पर यह बड़े और स्थापित दलों को कुछ विशेष सुविधाएँ देता है। इन्हें अलग चुनाव चिह्न दिया जाता है जिसका प्रयोग पार्टी का अधिकृत उम्मीदवार ही कर सकता है। इस विशेषाधिकार और कुछ अन्य लाभ पाने वाली पार्टियों को 'मान्यता प्राप्त' दल कहते हैं। चुनाव आयोग ने स्पष्ट नियम बनाए हैं कि कोई दल कितने प्रतिशत वोट और सीट जीतकर 'मान्यता प्राप्त' दल बन सकता है। जब कोई पार्टी राज्य विधानसभा के चुनाव में पड़े कुल मतों का 6 फ़ीसदी या उससे अधिक हासिल करती है और कम से कम दो सीटों पर जीत दर्ज करती है तो उसे अपने राज्य के राजनीतिक दल के रूप में मान्यता मिल जाती है। अगर कोई दल लोकसभा-चुनाव में पड़े कुल वोट का अथवा चार राज्यों के विधान सभाई चुनाव में पड़े कुल वोटों का 6 प्रतिशत हासिल करता है और लोकसभा के चुनाव में कम से कम चार सीटों पर जीत दर्ज़ करता है तो उसे राष्ट्रीय दल की मान्यता मिलती है।

इस वर्गीकरण के हिसाब से 2006 में देश में छह दल राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त थे। आइए, इनमें से प्रत्येक के बारे में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य जान लें।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस : इसे आमतौर पर कांग्रेस पार्टी कहा जाता है और यह दुनिया के सबसे पुराने दलों में से एक है। 1885 में गठित इस

दल में कई बार विभाजन हुए हैं। आज़ादी के बाद राष्ट्रीय और प्रांतीय स्तर पर अनेक दशकों तक इसने प्रमुख भूमिका निभाई है। जवाहरलाल नेहरू की अगुवाई में इस दल ने भारत को एक आधुनिक धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने का प्रयास किया। 1971 तक लगातार और फिर 1980 से 1989 तक इसने देश पर शासन किया। 1989 के बाद से इस दल के जन-समर्थन में कमी आई पर अभी यह पूरे देश और समाज के सभी वर्गों में अपना आधार बनाए हुए है। अपने वैचारिक रुझान में मध्यमार्गी (न वामपंथी न दक्षिणपंथी) इस दल ने धर्मनिरपेक्षता और कमज़ोर वर्गों तथा अल्पसंख्यक समुदायों के हितों को अपना मुख्य अजेंडा बनाया है। यह दल नयी आर्थिक नीतियों का समर्थक है पर इस बात को लेकर भी सचेत है कि इन नीतियों का गरीब और कमज़ोर वर्गों पर बुरा असर न पड़े। 2004 में हुए लोकसभा चुनाव में 145 सीटें जीतकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। अभी केंद्र में शासन करने वाले संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन का नेतृत्व यही दल कर रहा है।

भारतीय जनता पार्टी : पुराने भारतीय जनसंघ को पुनर्जीवित करके 1980 में यह पार्टी बनी। भारत की प्राचीन संस्कृति और मूल्यों से प्रेरणा लेकर मज़बूत और आधुनिक भारत बनाने का लक्ष्य; भारतीय राष्ट्रवाद और राजनीति की इसकी अवधारणा में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद (या हिंदुत्व) एक प्रमुख तत्व है। पार्टी जम्मू और कश्मीर को क्षेत्रीय और राजनीतिक स्तर पर विशेष दर्जा देने के खिलाफ़ है। यह देश में रहने वाले सभी धर्म के लोगों के लिए समान नागरिक संहिता बनाने और धर्मांतरण पर रोक लगाने के पक्ष में है। 1990 के दशक में इसके समर्थन का आधार काफ़ी व्यापक हुआ। पहले देश के उत्तरी और पश्चिमी तथा शहरी इलाकों तक ही सिमटी रहने वाली इस पार्टी ने इस दशक में दक्षिण, पूर्व, पूर्वोत्तर तथा देश के ग्रामीण इलाकों में अपना आधार बढ़ाया। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के नेता की हैसियत से यह पार्टी 1998 में सत्ता में आई। गठबंधन में कई प्रांतीय और क्षेत्रीय दल शामिल थे। 2004 के लोकसभा चुनाव में यह पार्टी पराजित हुई और अभी लोकसभा में मुख्य विपक्षी दल है।
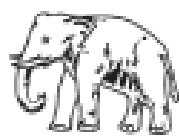
बहुजन समाज पार्टी : स्व. कांशीराम के नेतृत्व में 1984 में गठन। बहुजन समाज जिसमें दलित, आदिवासी, पिछड़ी जातियाँ और धार्मिक अल्पसंख्यक शामिल हैं, के लिए राजनीतिक सत्ता पाने का प्रयास और उनका प्रतिनिधित्व करने का दावा। पार्टी साहू महाराज, महात्मा फुले, पेरियार रामास्वामी नायकर और बाबा साहब आंबेडकर के विचारों और शिक्षाओं से प्रेरणा लेती है। दलितों और कमज़ोर वर्ग के लोगों के कल्याण और उनके हितों की रक्षा के मुद्दों पर सबसे ज़्यादा सक्रिय इस पार्टी का मुख्य आधार उत्तर प्रदेश में है, पर मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तराखंड, दिल्ली और पंजाब में भी यह पार्टी पर्याप्त ताकतवर है। अलग-अलग पार्टियों से अलग-अलग अवसरों पर समर्थन लेकर इसने उत्तर प्रदेश में तीन बार सरकार बनाई। इस दल को 2004 के लोकसभा चुनाव में करीब 5 फीसदी वोट और 19 सीटें मिलीं।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी - मार्क्सवादी (सीपीआई-एम) : 1964 में स्थापित; मार्क्सवाद- लेनिनवाद में आस्था। समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र की समर्थक तथा साम्राज्यवाद और सांप्रदायिकता की विरोधी। यह पार्टी भारत में सामाजिक-आर्थिक न्याय का लक्ष्य साधने में लोकतांत्रिक चुनावों को

सहायक और उपयोगी मानती है। पश्चिम बंगाल, केरल और त्रिपुरा में बहुत मज़बूत आधार। गरीबों, कारखाना मज़दूरों, खेतिहर मज़दूरों और बुद्धिजीवियों के बीच अच्छी पकड़। यह पार्टी देश में पूँजी और सामानों की मुक्त आवाजाही की अनुमति देने वाली नयी आर्थिक नीतियों की आलोचक है। पश्चिम बंगाल में लगातार 30 वर्षों से शासन में। 2004 के चुनाव में इसने करीब 6 फ़ीसदी वोट और लोकसभा की 43 सीटें हासिल की। यह पार्टी अभी केंद्र की संप्रग सरकार का बाहर से समर्थन कर रही है और इस सरकार में शामिल नहीं है।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सी पी आई) : 1925 में गठित। मार्क्सवाद-लेनिनवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र में आस्था। अलगाववादी और सांप्रदायिक ताकतों की विरोधी। यह पार्टी संसदीय लोकतंत्र को मज़दूर वर्ग, किसानों और गरीबों के हितों को आगे बढ़ाने का एक उपकरण मानती है। 1964 की फूट (जिसमें माकपा इससे अलग हुई) के बाद इसका जनाधार सिकुड़ता चला गया लेकिन केरल, पश्चिम बंगाल, पंजाब, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में अभी भी ठीकठाक स्थिति। बहरहाल, इसका समर्थन धीरे-धीरे कम होता गया है। 2004 के चुनाव में इसे 1.4 फ़ीसदी वोट और लोकसभा की 10 सीटें हासिल हुईं। मज़बूत वाम मोर्चा बनाने के लिए सभी वामपंथी दलों को साथ लाने की पक्षधर। अभी केंद्र की संप्रग सरकार को बाहर से समर्थन दे रही है।

राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी : कांग्रेस पार्टी में विभाजन के बाद 1999 में यह पार्टी बनी। लोकतंत्र, गांधीवादी धर्मनिरपेक्षता, समता, सामाजिक न्याय और संघवाद में आस्था। यह पार्टी सरकार के प्रमुख पदों को सिर्फ़ भारत में जन्मे नागरिकों के लिए आरक्षित करना चाहती है। महाराष्ट्र में प्रमुख ताकत होने के साथ ही यह मेघालय, मणिपुर और असम में भी ताकतवर है। कांग्रेस के साथ महाराष्ट्र सरकार में भागीदार। 2004 से संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन में साझीदार।

प्रांतीय दल

इन छह पार्टियों के अलावा अन्य सभी प्रमुख दलों को चुनाव आयोग ने 'प्रांतीय दल' के रूप में मान्यता दी है। आमतौर पर इन्हें क्षेत्रीय दल कहा जाता है पर यह ज़रूरी नहीं है कि अपनी विचारधारा या नज़रिए में ये पार्टियाँ क्षेत्रीय ही हों। इनमें से कुछ अखिल भारतीय दल हैं पर उन्हें कुछ प्रांतों में ही सफलता मिल पाई है। समाजवादी पार्टी, समता पार्टी और राष्ट्रीय जनता दल का राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक संगठन है और इनकी कई राज्यों में इकाइयाँ हैं। बीजू जनता दल, सिक्किम लोकतांत्रिक मोर्चा और मिजो नेशनल फ्रंट जैसी पार्टियाँ अपनी क्षेत्रीय पहचान को लेकर सचेत हैं।

पिछले तीन दशकों में प्रांतीय दलों की संख्या और ताकत में वृद्धि हुई है। इससे भारतीय संसद विविधताओं से और भी ज़्यादा संपन्न हुई है। किसी एक राष्ट्रीय दल का लोकसभा में बहुमत नहीं है। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय दल प्रांतीय दलों के साथ गठबंधन करने को मजबूर हुए हैं। 1996 के बाद से लगभग प्रत्येक प्रांतीय दल को एक या दूसरी राष्ट्रीय स्तर की गठबंधन सरकार का हिस्सा बनने का अवसर मिला है। इससे हमारे देश में संघवाद और लोकतंत्र मज़बूत हुए हैं (इन दलों के ब्यौरों के लिए अगले पृष्ठ का नक्शा देखें)।

भारत में क्षेत्रीय पार्टियाँ
(6 जनवरी 2007 की स्थिति)
जम्मू एड कश्मीर नेशनल कांफ्रेंस (1939)
जम्मू एड कश्मीर नेशनल पैंथर्स पार्टी
जम्मू एड कश्मीर पीं'पल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (1999)
राष्ट्रीय लोकदल (1998)
समाजवादी पार्टी (1992) (मध्य प्रदेश और उत्तराखड में भी)
जनता दल (यू) (1999) (झारखड, नगालैड में भी)
लोक जनशक्ति पार्टी (2000)
राष्ट्रीय जनता दल (1998) (झारखंड में भी)
असम यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट (2006)
असम गण परिषद् (1985)
अरुणाचल कांग्रेस (1996)
नगालैड पी'पील्स फ्रंट (2002)
सिक्किम डेमोक्रेटिक फ्रंट (1993)
उत्तराखड क्रांति दल (1979)
शिरोमणि अकाली दल (1920)
इंडियन नेशनल लोक दल (1977)
जम्मू और कश्मीर
पंजाब
उत्तराखड
हरियाणा
उत्तर प्रदेश
बिहार
सिक्किम
अरुणाचल प्रदेश
असम
मेघालय
नगालैड
मणिपुर
त्रिपुरा
मिज़ोरम
झारखड मुक्ति मोर्चा (1973) (उड़ीसा में भी)
झारखड
पश्चिम बगाल
बीजू जनता दल (1977)
उड़ीसा
शिव सेना (1966)
महाराष्ट्र
मणिपुर पीं'पल्स पार्टी (1968)
मिज़ोरम पीं'पल्स कांफ्रेंस (1972)
मिज़ोरम नेशनलिस्ट पार्टी (1979)
मिजो नेशनल फ्रंट (1961)
यूनाइटेड गोअंस डेमोक्रेटिक पार्टी (1963)
महाराष्ट्रवादी गोमांतक पार्टी (1961)
गोवा
आंध्र प्रदेश
फॉरवर्ड ब्लॉक (1940)
रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी (1940)
तृणमूल कांग्रेस : (मेघालय में भी) (1997)
इंडीजिनस नेशनलिस्ट पार्टी ऑव त्रिपुरा (2001)
कर्नाटक
जनता दल (सेक्यूलर) (केरल में भी) (1999)
तमिलनाडु
पांडिचेरी
मेघालय डेमोक्रेटिक पार्टी
यूनाइटेड डेमोक्रेटिक पार्टी
केरल
पांडिचेरी मुनेत्र कांग्रेस (1990)
तेलुगु देशम पार्टी (1982)
तेलंगाना राष्ट्र समिति (2001)
इंडियन फेडरल डेमोक्रेटिक पार्टी
केरल-कांग्रेस (मणि.) (1964)
मुस्लिम लीग (1948)
ऑल इंडिया अन्ना डीएमके (1972)
द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (पांडिचेरी में भी) (1949)
पट्टालि मक्कल कच्ची (पांडिचेरी में भी) (1990)
मारुमालारची द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (1993)

राजनीतिक दलों के लिए चुनौतियाँ

हमने देखा है कि लोकतंत्र के कामकाज के लिए राजनीतिक पार्टियाँ कितनी महत्वपूर्ण हैं। चूँकि दल ही लोकतंत्र का सबसे ज़्यादा प्रकट रूप हैं, इसलिए यह स्वाभाविक है कि लोकतंत्र के कामकाज की गड़बड़ियों के लिए लोग राजनीतिक दलों को ही दोषी ठहराएँ। पूरी दुनिया में लोग इस बात से नाराज़ रहते हैं कि राजनीतिक दल अपना काम ठीक ढंग से नहीं करते। हमारे लोकतंत्र के साथ भी यही बात लागू होती है। आम जनता की नाराज़गी और आलोचना राजनीतिक दलों के कामकाज के चार पहलुओं पर ही केंद्रित रही है। लोकतंत्र का प्रभावी उपकरण बने रहने के लिए राजनीतिक दलों को इन चुनौतियों का सामना करना चाहिए और इन पर जीत हासिल करनी चाहिए।

पहली चुनौती है पार्टी के भीतर आंतरिक लोकतंत्र का न होना। सारी दुनिया में यह प्रवृत्ति बन गई है कि सारी ताकत एक या कुछेक नेताओं के हाथ में सिमट जाती है। पार्टियों के पास न सदस्यों की खुली सूची होती है, न नियमित रूप से सांगठनिक बैठकें होती हैं। इनके आंतरिक चुनाव भी नहीं होते। कार्यकर्ताओं से वे सूचनाओं का साझा भी नहीं करते। सामान्य कार्यकर्ता अनजान ही रहता है कि पार्टी के अंदर क्या चल रहा है। उसके पास न तो नेताओं से जुड़कर फ़ैसलों को प्रभावित करने की ताकत होती है न ही कोई और माध्यम। परिणामस्वरूप पार्टी के नाम पर सारे फ़ैसले लेने का अधिकार उस पार्टी के नेता हथिया लेते हैं। चूँकि कुछेक नेताओं के पास ही असली ताकत होती है इसलिए जो उनसे असहमत होते हैं उनका पार्टी में टिके रह पाना

बर्लुस्कोनी की कठपुतलियाँ

© रवि हैसन- स्वेंस्का डग्लैडेट, केगल कार्टून्स

बर्लुस्कोनी इटली के प्रधानमंत्री थे। वह इटली के बड़े व्यवसायियों में एक हैं। वे 1993 में गठित फोर्जा इतालिया के नेता हैं। उनकी कंपनी कई टीवी चैनल, सबसे महत्वपूर्ण प्रकाशनगृह, एक फुटबाल क्लब (एसी मिलान) और बैंक की मालिक है। यह कार्टून पिछले चुनाव के समय का है।

दल महिलाओं को पर्याप्त टिकट क्यों नहीं देते? क्या इसका कारण आंतरिक लोकतंत्र की कमी है?

मुश्किल हो जाता है। पार्टी के सिद्धांतों और नीतियों से निष्ठा की जगह नेता से निष्ठा ही ज़्यादा महत्वपूर्ण बन जाती है।

दूसरी चुनौती पहली चुनौती से ही जुड़ी है–यह है वंशवाद की चुनौती। चूँकि अधिकांश दल अपना कामकाज पारदर्शी तरीके से नहीं करते इसलिए सामान्य कार्यकर्ता के नेता बनने और ऊपर आने की गुंजाइश काफ़ी कम होती है। जो लोग नेता होते हैं वे अनुचित लाभ लेते हुए अपने नज़दीकी लोगों और यहाँ तक कि अपने ही परिवार के लोगों को आगे बढ़ाते हैं। अनेक दलों में शीर्ष पद पर हमेशा एक ही परिवार के लोग आते हैं। यह दल के अन्य सदस्यों के साथ अन्याय है। यह बात लोकतंत्र के लिए भी अच्छी नहीं है क्योंकि इससे अनुभवहीन और बिना जनाधार वाले लोग ताकत वाले पदों पर पहुँच जाते हैं। यह प्रवृत्ति कुछ प्राचीन लोकतांत्रिक देशों सहित कमोबेश पूरी दुनिया में दिखाई देती है।

तीसरी चुनौती दलों में, (खासकर चुनाव के समय) पैसा और अपराधी तत्वों की बढ़ती घुसपैठ की है। चूँकि पार्टियों की सारी चिंता चुनाव जीतने की होती है अत: इसके लिए कोई भी जायज–नाजायज तरीका अपनाने से वे परहेज नहीं करतीं। वे ऐसे ही उम्मीदवार उतारती हैं जिनके पास काफ़ी पैसा हो या जो पैसे जुटा सकें। किसी पार्टी को ज़्यादा धन देने वाली कंपनियाँ और अमीर लोग उस पार्टी की नीतियों और फ़ैसलों को भी प्रभावित करते हैं। कई बार पार्टियाँ चुनाव जीत सकने वाले अपराधियों का समर्थन करती हैं या उनकी मदद लेती हैं। दुनिया भर में लोकतंत्र के समर्थक लोकतांत्रिक राजनीति में अमीर लोग और बड़ी कंपनियों की बढ़ती भूमिका को लेकर चिंतित हैं।

चौथी चुनौती पार्टियों के बीच विकल्पहीनता की स्थिति की है। सार्थक विकल्प का मतलब होता है कि विभिन्न पार्टियों की नीतियों और कार्यक्रमों में महत्वपूर्ण अंतर हो। हाल के वर्षों में दलों के बीच वैचारिक अंतर कम होता गया है और यह प्रवृत्ति दुनिया–भर में दिखती है। जैसे, ब्रिटेन की लेबर पार्टी और कंजरवेटिव पार्टी के बीच अब बड़ा कम अंतर रह गया है। दोनों दल बुनियादी मसलों पर सहमत हैं और उनके बीच अंतर बस ब्यौरों का रह गया है कि नीतियाँ कैसे बनाई जाएँ और उन्हें कैसे लागू किया जाए। अपने देश में भी सभी बड़ी पार्टियों के बीच आर्थिक मसलों पर बड़ा कम अंतर रह गया है। जो लोग इससे अलग नीतियाँ चाहते हैं उनके लिए कोई विकल्प उपलब्ध नहीं है। कई बार लोगों के पास एकदम नया नेता चुनने का विकल्प भी नहीं होता क्योंकि वही थोड़े से नेता हर दल में आते–जाते रहते हैं।
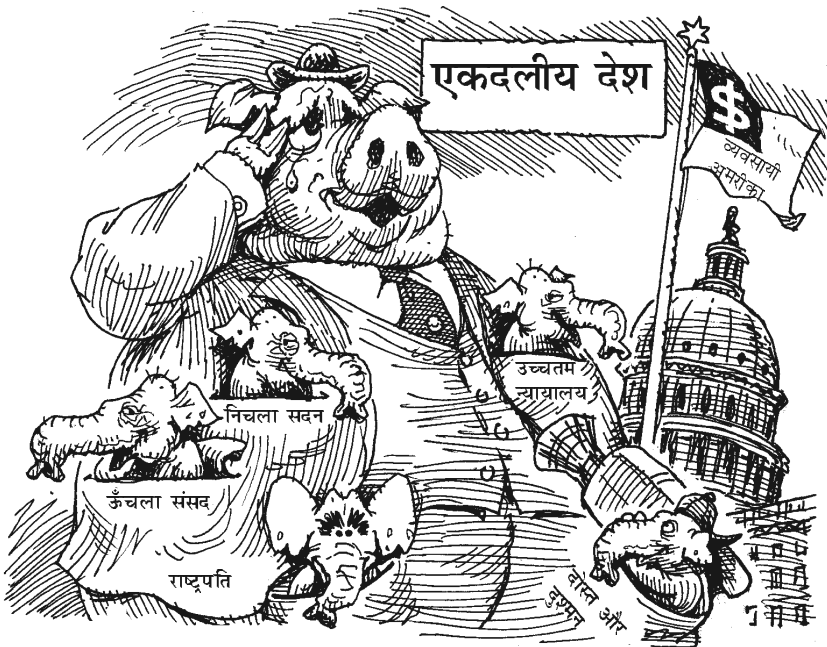
आप तो पहले से ही धनकुबेर हैं फिर चुनाव क्यों लड़ना चाहते हैं?

वह दल-बदलू विधायकों की सुरक्षा में तैनात है...

© मंजुल - डीएनए

अधिकांश कार्टूनों में नेताओं का मज़ाक उड़ाया जाता है। क्या आप बता सकते हैं कि इस हिस्से में वर्णित चुनौतियाँ किस कार्टून में आई हैं। ये इटली, अमरीका और भारत से संबंधित हैं।

दलों को कैसे सुधारा जा सकता है?

इन चुनौतियों का सामना करने के लिए ज़रूरी है कि राजनीतिक दलों में सुधार हो। ऐसे में सवाल यह उठता है कि क्या राजनीतिक दल सुधरने को तैयार हैं? अगर वे तैयार नहीं हैं तो क्या उन्हें सुधरने को मजबूर किया जा सकता है? दुनिया-भर के नागरिक इन सवालों को लेकर परेशान हैं। ये ऐसे सवाल हैं जिनका जवाब आसान नहीं है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में आखिरी फ़ैसला राजनेता ही करते हैं जो विभिन्न राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। लोग उनको बदल सकते हैं पर उनकी जगह फिर नए नेता ही लेते हैं। अगर वे सभी सुधरना नहीं चाहते हैं तो कोई उनको सुधरने के लिए कैसे मजबूर कर सकता है?

आइए, अपने देश में राजनीतिक दलों और इसके नेताओं को सुधारने के लिए हाल में जो प्रयास किए गए हैं या जो सुझाव दिए गए हैं उन पर गौर करें।

- विधायकों और सांसदों को दल-बदल करने से रोकने के लिए संविधान में संशोधन किया गया। निर्वाचित प्रतिनिधियों के मंत्रीपद या पैसे के लोभ में दल-बदल करने में आई तेज़ी को देखते हुए ऐसा किया गया। नए कानून के अनुसार अपना दल-बदलने वाले सांसद या विधायक को अपनी सीट भी गँवानी होगी। इस नए कानून से दल-बदल में कमी आई है पर इससे पार्टी में विरोध का कोई स्वर उठाना और भी मुश्किल हो गया है पार्टी नेतृत्व जो कोई फ़ैसला करता है,

दल-बदल : विधायिका के लिए किसी दल-विशेष से निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधि का उस दल को छोड़कर किसी अन्य दल में चले जाना।

क्या आप इस तरह से राजनीतिक दलों को सुधारने का समर्थन करते हैं?

सांसद और विधायक को उसे मानना ही होता है।

- उच्चतम न्यायालय ने पैसे और अपराधियों का प्रभाव कम करने के लिए एक आदेश जारी किया है। इस आदेश के द्वारा चुनाव लड़ने वाले हर उम्मीदवार को अपनी संपत्ति का और अपने खिलाफ़ चल रहे आपराधिक मामलों का ब्यौरा एक शपथपत्र के माध्यम से देना अनिवार्य कर दिया गया है। इस नयी व्यवस्था से लोगों को अपने उम्मीदवारों के बारे में बहुत सी पक्की सूचनाएँ उपलब्ध होने लगी हैं, पर उम्मीदवार द्वारा दी गई सूचनाएँ सही हैं या नहीं, यह जाँच करने की कोई व्यवस्था नहीं है। अभी तक हम यह बात भरोसे से नहीं कह सकते कि इस व्यवस्था के बन जाने के बाद से राजनीति पर अमीरों और अपराधियों का प्रभाव घटा है या नहीं।
- चुनाव आयोग ने एक आदेश के जरिए सभी दलों के लिए सांगठनिक चुनाव कराना और आयकर का रिटर्न भरना ज़रूरी बना दिया है। दलों ने ऐसा करना शुरू भी कर दिया है, पर कई बार ऐसा सिर्फ़ खानापूरी करने के लिए होता है। यह बात अभी नहीं कही जा सकती कि इससे राजनीतिक दलों में अंदरूनी लोकतंत्र मज़बूत हुआ है। इनके अलावा राजनीतिक दलों में सुधार के लिए अक्सर कई कदम सुझाए जाते हैं :
- राजनीतिक दलों के आंतरिक कामकाज को व्यवस्थित करने के लिए कानून बनाया जाना चाहिए। सभी दल अपने सदस्यों की सूची रखें, अपने संविधान का पालन करें, पार्टी में विवाद की स्थिति में एक स्वतंत्र प्राधिकारी को पंच बनाएँ और सबसे बड़े पदों के लिए खुला चुनाव कराएँ–यह व्यवस्था अनिवार्य की जानी चाहिए।
- राजनीतिक दल महिलाओं को एक खास न्यूनतम अनुपात में (करीब एक तिहाई) ज़रूर टिकट दें। इसी प्रकार दल के प्रमुख पदों पर भी औरतों के लिए आरक्षण होना चाहिए।
- चुनाव का खर्च सरकार उठाए। सरकार दलों को चुनाव लड़ने के लिए धन दे। यह मदद पेट्रोल, कागज़, फ़ोन वगैरह के रूप में भी हो सकती है या फिर पिछले चुनाव में मिले मतों के अनुपात में नकद पैसा दिया जा सकता है।

राजनीतिक दलों ने अभी तक इन सुझावों को नहीं माना है। अगर इन्हें मान लिया गया तो संभव है कि इनसे कुछ सुधार हो। लेकिन हर राजनीतिक समस्या के लिए महज़ कानूनी समाधान की बात करते हुए हमें सावधान रहना चाहिए। दलों को ज़रूरत से ज़्यादा नियमों से जकड़ना नुकसानदेह भी हो सकता है। इससे सभी दल कानून को दरकिनार करने का तरीका ढूँढ़ने लगेंगे। इसके अलावा राजनीतिक दल खुद भी ऐसा कानून पास करने पर सहमत नहीं होंगे जिसे वे पसंद नहीं करते।

दो और तरीके हैं जिनसे राजनीतिक दलों को सुधारा जा सकता है। पहला तरीका है राजनीतिक दलों पर लोगों द्वारा दबाव बनाने का। यह काम चिट्ठियाँ लिखने, प्रचार करने और आंदोलनों के जरिये किया जा सकता है। आम नागरिक,

शपथपत्र : किसी अधिकारी को सौंपा गया एक दस्तावेज़! इसमें कोई व्यक्ति अपने बारे में निजी सूचनाएँ देता है और उनके सही होने के बारे में शपथ उठाता है। इस पर सूचना देने वाले के हस्ताक्षर होते हैं।

दबाव समूह, आंदोलन और मीडिया के माध्यम से यह काम किया जा सकता है। अगर दलों को लगे कि सुधार न करने से उनका जनाधार गिरने लगेगा या उनकी छवि खराब होगी तो इसे लेकर वे गंभीर होने लगेंगे। सुधार का दूसरा तरीका है सुधार की इच्छा रखने वालों का खुद राजनीतिक दलों में शामिल होना। लोकतंत्र की गुणवत्ता लोकतंत्र में लोगों की भागीदारी से तय होती है। अगर आम नागरिक खुद राजनीति में हिस्सा न लें और बाहर से ही बातें करते रहें तो सुधार मुश्किल है। खराब राजनीति का समाधान है ज़्यादा से ज़्यादा राजनीति और बेहतर राजनीति। हम इस बात की चर्चा फिर से आखिरी अध्याय में करेंगे।

1. लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की विभिन्न भूमिकाओं की चर्चा करें।
2. राजनीतिक दलों के सामने क्या चुनौतियाँ हैं?
3. राजनीतिक दल अपना कामकाज बेहतर ढंग से करें, इसके लिए उन्हें मज़बूत बनाने के कुछ सुझाव दें।
4. राजनीतिक दल का क्या अर्थ होता है?
5. किसी भी राजनीतिक दल के क्या गुण होते हैं?
6. चुनाव लड़ने और सरकार में सत्ता सँभालने के लिए एकजुट हुए लोगों के समूह को .... कहते हैं।
7. पहली सूची [संगठन/दल] और दूसरी सूची (गठबंधन/मोर्चा) के नामों का मिलान करें और नीचे दिए गए कूट नामों के आधार पर सही उत्तर ढूँढें :

	सूची I	**सूची II**
1.	कांग्रेस पार्टी	(क) राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन
2.	भारतीय जनता पार्टी	(ख) प्रांतीय दल
3.	भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी)	(ग) संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन
4.	तेलुगुदेशम पार्टी	(घ) वाम मोर्चा

	1	2	3	4
(क)	ग	क	ख	घ
(ख)	ग	घ	क	ख
(ग)	ग	क	घ	ख
(घ)	घ	ग	क	ख

8. इनमें से कौन बहुजन समाज पार्टी का संस्थापक है?

   (क) कांशीराम

   (ख) साहू महाराज

(ग) बी.आर आंबेडकर

(घ) ज्योतिबा फुले

9. भारतीय जनता पार्टी का मुख्य प्रेरक सिद्धांत क्या है?

(अ) बहुजन समाज

(ब) क्रांतिकारी लोकतंत्र

(स) सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

(द) आधुनिकता

10. पार्टियों के बारे में निम्नलिखित कथनों पर गौर करें :

(अ) राजनीतिक दलों पर लोगों का ज्यादा भरोसा नहीं है।

(ब) दलों में अक्सर बड़े नेताओं के घोटालों की गूँज सुनाई देती है।

(स) सरकार चलाने के लिए पार्टियों का होना ज़रूरी नहीं।

इन कथनों में से कौन सही है?

(क) अ, ब और स (ख) अ और ब (ग) ब और स (घ) अ और स

11. निम्नलिखित उद्धरण को पढ़ें और नीचे दिए गए प्रश्नों का जवाब दें :

मोहम्मद यूनुस बांग्लादेश के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हैं। गरीबों के आर्थिक और सामाजिक विकास के प्रयासों के लिए उन्हें अनेक अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार मिले हैं। उन्हें और उनके द्वारा स्थापित ग्रामीण बैंक को संयुक्त रूप से वर्ष 2006 का नोबेल शांति पुरस्कार दिया गया। फ़रवरी 2007 में उन्होंने एक राजनीतिक दल बनाने और संसदीय चुनाव लड़ने का फ़ैसला किया। उनका उद्देश्य सही नेतृत्व को उभारना, अच्छा शासन देना और नए बांग्लादेश का निर्माण करना है। उन्हें लगता है कि पारंपरिक दलों से अलग एक नए राजनीतिक दल से ही नई राजनीतिक संस्कृति पैदा हो सकती है। उनका दल निचले स्तर से लेकर ऊपर तक लोकतांत्रिक होगा।

नागरिक शक्ति नामक इस नये दल के गठन से बांग्लादेश में हलचल मच गई है। उनके फ़ैसले को काफ़ी लोगों ने पसंद किया तो अनेक को यह अच्छा नहीं लगा। एक सरकारी अधिकारी शाहेदुल इस्लाम ने कहा, "मुझे लगता है कि अब बांग्लादेश में अच्छे और बुरे के बीच चुनाव करना संभव हो गया है। अब एक अच्छी सरकार की उम्मीद की जा सकती है। यह सरकार न केवल भ्रष्टाचार से दूर रहेगी बल्कि भ्रष्टाचार और काले धन की समाप्ति को भी अपनी प्राथमिकता बनाएगी।"

पर दशकों से मुल्क की राजनीति में रुतबा रखने वाले पुराने दलों के नेताओं में संशय है। बांग्लादेश नेशनलिस्ट पार्टी के एक बड़े नेता का कहना है : "नोबेल पुरस्कार जीतने पर क्या बहस हो सकती है पर राजनीति एकदम अलग चीज़ है। एकदम चुनौती भरी और अक्सर विवादास्पद।" कुछ अन्य लोगों का स्वर और कड़ा था। वे उनके राजनीति में आने पर सवाल उठाने लगे। एक राजनीतिक प्रेक्षक ने कहा, "देश से बाहर की ताकतें उन्हें राजनीति पर थोप रही हैं।"

क्या आपको लगता है कि यूनुस ने नयी राजनीतिक पार्टी बनाकर ठीक किया?

क्या आप विभिन्न लोगों द्वारा जारी बयानों और अंदेशों से सहमत हैं? इस पार्टी को दूसरों से अलग काम करने के लिए खुद को किस तरह संगठित करना चाहिए? अगर आप इस राजनीतिक दल के संस्थापकों में एक होते तो इसके पक्ष में क्या दलील देते?

लोकतंत्र के परिणाम

परिचय

अब जब कि हम लोकतंत्र की अपनी यात्रा के आखिरी पड़ाव पर हैं तब विशिष्ट बातों की चर्चा से आगे जाने और कुछ सामान्य किस्म के सवाल पूछने का वक्त आ गया है, जैसे यही कि लोकतंत्र क्या करता है अथवा यह कि लोकतंत्र से हम अमूमन किन परिणामों की उम्मीद करते हैं? साथ ही, यह सवाल भी पूछा जा सकता है कि क्या वास्तविक जीवन में लोकतंत्र इन उम्मीदों को पूरा करता है? लोकतंत्र के परिणामों का मूल्यांकन कैसे करें ? हम इन्हीं बातों से अध्याय की शुरुआत करेंगे। इस विषय पर विचार करने के बारे में कुछ बातों को स्पष्ट कर लेने के बाद हम इस बात पर गौर करेंगे कि विभिन्न मामलों में लोकतंत्र से कैसे परिणाम वांछित हैं और वास्तविक धरातल पर क्या परिणाम आते हैं। इसके लिए हम लोकतंत्र के विभिन्न पहलुओं मसलन, शासन के स्वरूप, आर्थिक कल्याण, समानता, सामाजिक अंतर और टकराव तथा आखिर में आज़ादी और स्वाभिमान जैसे मामलों पर गौर करेंगे। इस तलाश में हमें सकारात्मक परिणाम मिलेंगे लेकिन इन परिणामों के साथ कई सवाल और शंकाएँ भी लगी हुई हैं। ये सवाल और आशंकाएँ हमें लोकतंत्र के सामने खड़ी चुनौतियों पर सोचने के लिए उकसाती हैं जिस पर हम अगले और अंतिम अध्याय में विचार करेंगे।

अध्याय 7

लोकतंत्र के परिणामों का मूल्यांकन कैसे करें?

क्या मैडम लिंगदोह की कक्षा में भी हम इन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचे थे? मुझे वह कक्षा इसलिए बहुत पसंद आई क्योंकि बच्चों को बने-बनाए निष्कर्ष नहीं बता दिए गए थे।

क्या आपको याद है कि मैडम लिंगदोह की कक्षा में छात्रों ने लोकतंत्र के बारे में कैसी बातें की थीं? आपने इसे कक्षा 9 की पाठ्यपुस्तक के दूसरे अध्याय में पढ़ा था। इस बातचीत से यह नतीजा निकला था कि लोकतंत्र शासन की अन्य व्यवस्थाओं से बेहतर है। तानाशाही और अन्य व्यवस्थाएँ ज़्यादा दोषपूर्ण हैं। लोकतंत्र को सबसे बेहतर बताया गया था क्योंकि यह

- नागरिकों में समानता को बढ़ावा देता है;
- व्यक्ति की गरिमा को बढ़ाता है;
- इससे फ़ैसलों में बेहतरी आती है;
- टकरावों को टालने-सँभालने का तरीका देता है; और
- इसमें गलतियों को सुधारने की गुंजाइश होती है।

क्या ये उम्मीदें लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं से पूरा होती हैं? अपने आसपास के लोगों से बात करें तो पाएँगे कि अधिकांश लोग अन्य किसी भी वैकल्पिक शासन व्यवस्था की तुलना में लोकतंत्र को पसंद करते हैं। लेकिन लोकतांत्रिक शासन के कामकाज से संतुष्ट होने वालों की संख्या उतनी बड़ी नहीं होती। सो, हम एक दुविधा की स्थिति में आ जाते हैं: सैद्धांतिक रूप में तो लोकतंत्र को अच्छा माना जाता है पर व्यवहार में इसे इतना अच्छा नहीं माना जाता। इस दुविधा के चलते लोकतंत्र के नतीजों पर ज़्यादा गहराई से विचार करना ज़रूरी हो जाता है। क्या हम सिर्फ़ नैतिक कारणों से ही लोकतंत्र को पसंद करते हैं? या फिर, लोकतंत्र के समर्थन के पीछे कुछ युक्तिपरक कारण भी हैं?

आर. के. लक्ष्मण-ब्रशिंग अप द ईयर्स

आज दुनिया के सौ देश किसी न किसी तरह की लोकतांत्रिक व्यवस्था चलाने का दावा करते हैं। इनका औपचारिक संविधान है, इनके यहाँ चुनाव होते हैं और राजनीतिक दल भी हैं। साथ ही, वे अपने नागरिकों को कुछ बुनियादी अधिकारों की गारंटी देते हैं। लोकतंत्र के ये तत्व तो अधिकांश देशों में समान हैं पर सामाजिक स्थिति, अपनी आर्थिक उपलब्धि और अपनी संस्कृतियों के मामले में ये देश एक-दूसरे से काफ़ी अलग-अलग हैं। स्पष्ट है कि इन सबका लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के नतीजों पर भी असर पड़ता है और एक जगह जो उपलब्धि हो वह दूसरी जगह भी उसी तरह दिखे यह ज़रूरी नहीं है। लेकिन क्या कोई ऐसी बुनियादी चीज़ है जिसकी उम्मीद हम हर लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था से करेंगे ही?

कई बार हम लोकतंत्र को हर मर्ज की दवा मान लेते हैं और उससे हर चीज़ की उम्मीद करने लगते हैं। लोकतंत्र के प्रति अपनी दिलचस्पी और दीवानगी के चलते अक्सर हम यह कह बैठते हैं कि लोकतंत्र सभी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का समाधान कर सकता है और जब हमारी कुछ उम्मीदें पूरी नहीं होतीं तो हम लोकतंत्र की अवधारणा को ही दोष देने लगते हैं। हम यह संदेह करने लगते हैं कि क्या हम वास्तव में लोकतांत्रिक व्यवस्था में ही रह रहे हैं। लोकतंत्र के परिणामों के बारे में सावधानीपूर्वक विचार करने की दिशा में पहला कदम यही है कि हम पहले यह मानें कि लोकतंत्र शासन का एक स्वरूप भर है।

यह कुछ चीज़ों को हासिल करने की स्थितियाँ तो बना सकता है पर नागरिकों को ही उन स्थितियों का लाभ लेकर अपने लक्ष्यों को हासिल करना होता है। इतना ही नहीं, लोकतंत्र का उन अनेक चीज़ों से ज़्यादा सरोकार नहीं होता जिनको हम बहुत मूल्यवान मानते हैं। लोकतंत्र हमारी सभी सामाजिक बुराइयों को मिटा देने वाली जादू की छड़ी भी नहीं है। तो आइए, हम उन कुछ चीज़ों की जाँच करें जिसकी उम्मीद हर लोकतांत्रिक व्यवस्था से की जा सकती है और साथ ही लोकतंत्र के रिकॉर्ड पर भी नज़र डालें।

उत्तरदायी, ज़िम्मेवार और वैध शासन

कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें लोकतंत्र को पूरा करना ही चाहिए। लोकतंत्र में सबसे बड़ी चिंता यह होती है कि लोगों का अपना शासक चुनने का अधिकार और शासकों पर नियंत्रण बरकरार रहे। वक्त-ज़रूरत और यथासंभव इन चीज़ों के लिए लोगों को निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी करने में सक्षम होना चाहिए ताकि लोगों के प्रति ज़िम्मेवार सरकार बन सके और सरकार लोगों की ज़रूरतों और उम्मीदों पर ध्यान दे।

इस सवाल के तफ्सील में जाने से पहले हमारे सामने एक मामूली-सा जान पड़ता सवाल यह भी है: क्या लोकतांत्रिक सरकार कार्यकुशल होती है? क्या यह प्रभावी होती है? कुछ लोगों का मानना है कि लोकतंत्र में कम प्रभावी सरकारें बनती हैं। निश्चित रूप से यह सही है कि अलोकतांत्रिक सरकारों को विधायिका का सामना नहीं करना होता। उन्हें बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक नज़रिए का ख्याल नहीं रखना पड़ता। लोकतंत्र में बातचीत और मोलतोल के आधार पर काम चलता है। क्या इससे लोकतांत्रिक सरकारें कम प्रभावशाली हो जाती हैं?

आइए, अब फ़ैसलों को मूल्य के हिसाब से तौलने की कोशिश करें। ऐसी सरकार की कल्पना कीजिए जो बहुत तेज़ फ़ैसले लेती है। लेकिन यह सरकार ऐसे फ़ैसले भी ले सकती है जिसे लोग स्वीकार न करें और तब ऐसे फ़ैसलों से परेशानी हो सकती है। इसकी तुलना में लोकतांत्रिक सरकार सारी प्रक्रिया को पूरा करने में ज़्यादा समय ले सकती है।

सरकार की नज़र

माइक कीफ- केगल कार्टून्स
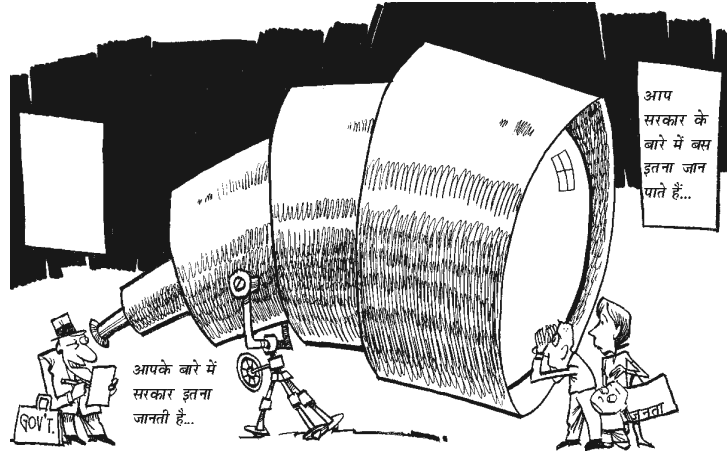
लेकिन इसने पूरी प्रक्रिया को माना है इसलिए इस बात की ज़्यादा संभावना है कि लोग उसके फ़ैसलों को मानेंगे और वे ज़्यादा प्रभावी होंगे। इस प्रकार लोकतंत्र में फ़ैसला लेने में जो वक्त लगता है वह बेकार नहीं जाता।

अब दूसरे पहलू पर नज़र डालें : लोकतंत्र में इस बात की पक्की व्यवस्था होती है कि फ़ैसले कुछ कायदे-कानून के अनुसार होंगे और अगर कोई नागरिक यह जानना चाहे कि फ़ैसले लेने में नियमों का पालन हुआ है या नहीं तो वह इसका पता कर सकता है। उसे यह न सिर्फ़ जानने का अधिकार है बल्कि उसके पास इसके साधन भी उपलब्ध हैं। इसे पारदर्शिता कहते हैं। यह चीज़ अक्सर गैर-लोकतांत्रिक सरकारों में नहीं होती इसलिए जब हम लोकतंत्र के परिणामों पर गौर कर रहे हैं तो यह उम्मीद करना उचित है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में ऐसी सरकार का गठन होगा जो कायदे-कानून को

क्या आप इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि सरकार आपके तथा आपके परिवार के बारे में क्या-क्या जानती है और कैसे जानती है (जैसे राशन-कार्ड या मतदान पहचान-पत्र)? सरकार के बारे में जानकारी के लिए आपके पास कौन-कौन से स्रोत हैं?

...तो इसका मतलब यह कि लोकतांत्रिक व्यवस्था की सबसे बड़ी उपलब्धि लोकतांत्रिक व्यवस्था ही है! इस मानसिक कसरत के बाद हमने यही नतीजा निकाला है ना?

मानेगी और लोगों के प्रति जवाबदेह होगी। हम यह उम्मीद भी कर सकते हैं कि लोकतांत्रिक सरकार नागरिकों को निर्णय प्रक्रिया में हिस्सेदार बनाने और खुद को उनके प्रति जवाबदेह बनाने वाली कार्यविधि भी विकसित कर लेती है।

अगर आप इन नतीजों के आधार पर लोकतांत्रिक व्यवस्था को तौलना चाहते हैं तो आपको इन संस्थाओं और व्यवहारों पर गौर करना होगा : नियमित और निष्पक्ष चुनाव, प्रमुख नीतियों और नए कानूनों पर खुली सार्वजनिक चर्चा और सरकार तथा इसके कामकाज के बारे में जानकारी पाने का नागरिकों का सूचना का अधिकार। इन पैमानों पर लोकतांत्रिक शासकों का रिकॉर्ड मिला-जुला रहा है। नियमित और निष्पक्ष चुनाव कराने और खुली सार्वजनिक चर्चा के लिए उपयुक्त स्थितियाँ बनाने के मामले में लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ ज़्यादा सफल हुई हैं पर ऐसे चुनाव कराने में जिसमें सबको अवसर मिले अथवा हर फ़ैसले पर सार्वजनिक बहस कराने के मामले में उनका रिकॉर्ड ज़्यादा अच्छा नहीं रहा है। नागरिकों के साथ सूचनाओं का साझा करने के मामले में भी उनका रिकॉर्ड खराब रहा है। पर इनकी तुलना जब हम गैर-लोकतांत्रिक शासनों से करते हैं तो इन क्षेत्रों का भी उनका प्रदर्शन बेहतर ही ठहरता है।

एक व्यापक धरातल पर लोकतांत्रिक सरकारों से यह उम्मीद करना उचित ही है कि वे लोगों की ज़रूरतों और माँगों का ध्यान रखने वाली हों और कुल मिलाकर भ्रष्टाचार से मुक्त शासन दें। इन दो मामलों में भी लोकतांत्रिक सरकारों का रिकॉर्ड प्रभावशाली नहीं है। लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ अक्सर लोगों को उनकी ज़रूरतों के लिए तरसाती हैं और आबादी के एक बड़े हिस्से की माँगों की उपेक्षा करती हैं। भ्रष्टाचार के आम किस्से इस बात की गवाही देते हैं कि लोकतांत्रिक व्यवस्था इस बुराई से मुक्त नहीं है। पर इसके साथ इस पर भी ध्यान दें कि गैर-लोकतांत्रिक सरकारें कम भ्रष्ट हैं या लोगों की ज़रूरतों के प्रति संवेदनशील हैं—यह कहने का कोई आधार नहीं है।

बहरहाल, एक मामले में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था निश्चित रूप से अन्य शासनों से बेहतर है : यह वैध शासन व्यवस्था है। यह सुस्त हो सकती है, कम कार्य-कुशल

पाकिस्तान को छोड़कर हर जगह लोकतंत्र को तानाशाही के ऊपर वरीयता

इनमें से किसी एक कथन से सहमत

दक्षिण एशिया

20

10

62
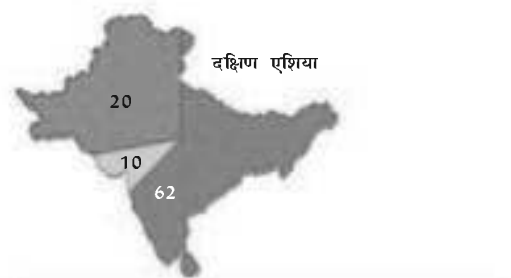
	बांग्लादेश	भारत	नेपाल	पाकिस्तान	श्रीलंका
लोकतंत्र बेहतर	69	70	62	37	71
कभी-कभी तानाशाही बेहतर	6	9	10	14	11
कोई फ़र्क नहीं पड़ता	25	21	28	49	18

अपने देश के लिए लोकतंत्र की उपयुक्तता पर बहुत कम लोगों को संदेह

आपके देश के लिए लोकतंत्र कितना उपयुक्त है?
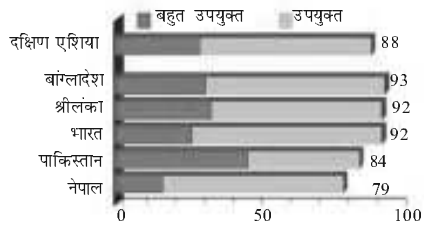
लोकतंत्र के लिए भरपूर समर्थन

जनता द्वारा चुने गए शासकों के शासन से सहमत लोगों की संख्या
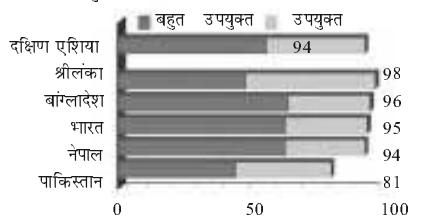
स्रोत : एसडीएसए टीम : स्टेट आफ डेमोक्रेसी इन साऊथ एशिया, दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनि. प्रेस, 2007

हो सकती है, इसमें भ्रष्टाचार हो सकता है, यह लोगों की ज़रूरतों की कुछ हद तक अनदेखी कर सकती है लेकिन लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था लोगों की अपनी शासन व्यवस्था है। इसी कारण पूरी दुनिया में लोकतंत्र के विचार के प्रति ज़बरदस्त समर्थन का भाव है। साथ दिए गए दक्षिण एशिया के प्रमाणों से जाहिर है कि यह समर्थन लोकतांत्रिक शासन वाले मुल्कों में तो है ही उन देशों में भी जहाँ लोकतांत्रिक सरकारें नहीं हैं, लोग अपने द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों का शासन चाहते हैं। वे यह भी मानते हैं कि लोकतंत्र उनके देश के लिए उपयुक्त है। अपने लिए समर्थन पैदा करने की लोकतंत्र की क्षमता भी लोकतंत्र का एक परिणाम ही है और इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

आर्थिक संवृद्धि और विकास

अगर लोकतांत्रिक शासन में अच्छी सरकार की उम्मीद की जाती है तो उससे विकास की उम्मीद करना क्या उचित नहीं है?

अगर हम 1950 से 2000 के बीच के सभी लोकतांत्रिक शासनों और तानाशाहियों के कामकाज की तुलना करें तो पाएँगे कि आर्थिक संवृद्धि के मामले में तानाशाहियों का रिकॉर्ड थोड़ा बेहतर है।

उच्चतर आर्थिक संवृद्धि हासिल करने में लोकतांत्रिक शासन की यह अक्षमता हमारे लिए चिंता का कारण है। पर अकेले इसी कारण से लोकतंत्र को खारिज नहीं किया जा सकता। जैसा कि आपने अर्थशास्त्र में पढ़ा है–आर्थिक विकास कई कारकों मसलन देश की जनसंख्या के आकार, वैश्विक स्थिति, अन्य देशों से सहयोग और देश द्वारा तय की गई आर्थिक प्राथमिकताओं पर भी निर्भर करता है। तानाशाही वाले कम विकसित देशों और लोकतांत्रिक व्यवस्था वाले कम विकसित देशों के बीच का अंतर नगण्य सा है। पर हम उम्मीद कर सकते हैं कि इस मामले में लोकतांत्रिक व्यवस्था तानाशाही से नहीं पिछड़े।

तानाशाही और लोकतांत्रिक शासन वाले देशों के आर्थिक विकास दर में अंतर भले ज़्यादा हो लेकिन इसके बावजूद लोकतांत्रिक व्यवस्था का चुनाव ही बेहतर है क्योंकि इसके अन्य अनेक सकारात्मक फ़ायदे हैं।

इस तथा इससे आगे के तीन पन्नों पर दिए गए कार्टून धनी और गरीब लोगों के बीच के अंतर को दिखाते हैं। क्या आर्थिक संवृद्धि का लाभ सबको बराबर-बराबर हुआ है? राष्ट्र के धन में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए गरीब किस तरह आवाज़ उठा सकते हैं? विश्व के धन में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए गरीब देश क्या करें?
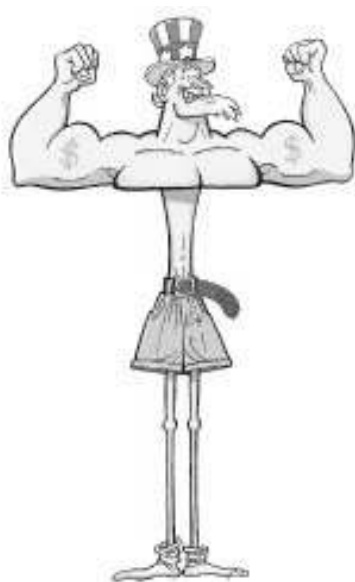
लोकतंत्र की आर्थिक उपलब्धियाँ

लोकतंत्र के पक्ष में दिए जाने वाले तर्क बड़े भावपूर्ण होते हैं । ऐसा होना भी चाहिए क्योंकि लोकतंत्र का रिश्ता हमारे गहरे मूल्यों से है। इन तर्कों के इर्द-गिर्द होने वाली बहसों को साधारण तरीके से नहीं निपटाया जा सकता। फिर भी तथ्यों और आँकड़ों के आधार पर लोकतंत्र के बारे में थोड़ी बहस चलाने में हर्ज नहीं है। लोकतंत्र की आर्थिक उपलब्धियों के बारे में भी ऐसी बहस की जा सकती है। वर्षों से लोकतंत्र के अनेक अध्येताओं ने सावधानीपूर्वक ऐसे प्रमाण इकट्ठा किए हैं जो बताते हैं कि लोकतंत्र का आर्थिक विकास और आर्थिक असमानताओं से कैसा रिश्ता है। यहाँ दिए गए चार्ट और नक्शों में ऐसे कुछ प्रमाण दिए गए हैं :

जिमी मर्गुलिए - कगाल कार्टूंस

- चार्ट 1 बताता है कि आर्थिक विकास के मामले में तानाशाहियों का रिकॉर्ड थोड़ा बेहतर है। लेकिन जब हम सिर्फ़ गरीब मुल्कों के रिकॉर्ड की ही तुलना करते हैं तो अंतर लगभग समाप्त हो जाता है।
- चार्ट 2 बताता है कि लोकतांत्रिक शासन के अंदर भी भारी आर्थिक असमानता हो सकती है। दक्षिण अफ्रीका और ब्राजील जैसे देशों में ऊपरी 20 फ़ीसदी लोगों का ही कुल राष्ट्रीय आय के 60 फ़ीसदी हिस्से पर कब्ज़ा है जबकि सबसे नीचे के 20 फ़ीसदी लोग राष्ट्रीय आय के मात्र 3 फ़ीसदी हिस्से पर जीवन बसर करते हैं। डेनमार्क और हंगरी जैसे मुल्क इस मामले में कहीं ज़्यादा बेहतर कहे जाएँगे।
- आप कार्टून में देख सकते हैं कि गरीब वर्ग के आगे सदा अवसरों की असमानता बरकरार रहती है।

अगर आमदनी के समान वितरण और आर्थिक प्रगति को आधार मानकर ही लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के आर्थिक कामकाज का मूल्यांकन करना हो तो आपका फ़ैसला क्या होगा?

चार्ट 1

विभिन्न देशों में आर्थिक विकास की दरें (1950-2000)

शासन का प्रकार और देश	**विकास दर**
सभी लोकतांत्रिक शासन	3.95
सभी तानाशाहियाँ	4.42
तानाशाही वाले गरीब देश	4.34
लोकतंत्र वाले गरीब देश	4.28

स्रोत : एडम प्रेजवर्स्की, माइकेल ई अल्वरेज, जोस एंटोनियो केईबब और फर्नांडो लिमोंगी, डेमोक्रेसी एंड डेवलपमेंट: पॉलिटिकल इंस्टीट्यूशन एंड वेल-बीइंग इन द वर्ल्ड, 1960-1990, कैंब्रिज, कैंब्रिज यूनि. प्रेस, 2000।

चार्ट 2

चुने हुए देशों में आय की असमानता

देशों के नाम	**राष्ट्रीय आय में प्रतिशत हिस्सा**	
	ऊपर का 20%	नीचे का 20%
दक्षिण अफ्रीका	64.8	2.9
ब्राजील	63.0	2.6
रूस	53.7	4.4
अमरीका	50.0	4.0
ब्रिटेन	45.0	6.0
डेनमार्क	34.5	9.6
हंगरी	34.4	10.0

असमानता और गरीबी में कमी

आर्थिक संवृद्धि की बात तो खैर है ही लेकिन लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं से यह उम्मीद रखना कहीं ज़्यादा तर्कसंगत है कि वे आर्थिक असमानता को कम करेंगी। जब देश में आर्थिक विकास तेज़ हो तब भी क्या आमदनी का वितरण इस तरह हो पाता है कि सभी को उसका बराबर-बराबर लाभ मिले और सभी लोग बेहतर जीवन गुज़ार सकें? क्या लोकतांत्रिक व्यवस्था में आर्थिक संवृद्धि और लोगों के बीच आर्थिक असमानता का बढ़ना साथ-साथ होता है? क्या लोकतंत्र आने से अवसरों और वस्तुओं का न्यायपूर्ण वितरण हो पाता है?

गरीब की आवाज़

ARES

एरेस-वेस्ट लैटिन अमरीका, केगल कार्टून्स

लोकतांत्रिक व्यवस्था राजनीतिक समानता पर आधारित होती है। प्रतिनिधियों के चुनाव में हर व्यक्ति का वज़न बराबर होता है। व्यक्तियों को राजनीतिक क्षेत्र में परस्पर बराबरी का दर्जा तो मिल जाता है लेकिन इसके साथ-साथ हम आर्थिक असमानता को भी बढ़ता हुआ पाते हैं। मुट्ठी भर धनकुबेर आय और संपत्ति में अपने अनुपात से बहुत ज़्यादा हिस्सा पाते हैं। इतना ही नहीं, देश की कुल आय में उनका हिस्सा भी बढ़ता गया है। समाज के सबसे निचले हिस्से के लोगों को जीवन बसर करने के लिए काफ़ी कम साधन मिलते हैं। उनकी आमदनी गिरती गई है। कई बार उन्हें भोजन, कपड़ा, मकान, शिक्षा और इलाज जैसी बुनियादी ज़रूरतें पूरी करने में मुश्किल आती हैं।

वास्तविक जीवन में लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ आर्थिक असमानताओं को कम करने में ज़्यादा सफल नहीं हो पाई हैं। अर्थशास्त्र की कक्षा 9 की पाठ्यपुस्तक में आपने भारत की गरीबी के बारे में पढ़ा है। हमारे मतदाताओं में गरीबों की संख्या काफ़ी बड़ी है इसलिए कोई भी पार्टी उनके मतों से हाथ धोना नहीं चाहेगी। फिर भी लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित सरकारें गरीबी के सवाल पर उतना ध्यान देने को तत्पर नहीं जान पड़तीं जितने कि आप उनसे उम्मीद करते हैं। कुछ अन्य देशों में हालत इससे भी ज़्यादा खराब है। बांग्लादेश में आधी से ज़्यादा आबादी गरीबी में जीवन गुज़ारती है। अनेक गरीब देशों के लोग अपनी खाद्य-आपूर्ति के लिए भी अब अमीर देशों पर निर्भर हो गए हैं।

लोकतंत्र का मतलब है बहुमत का शासन। गरीबों का बहुमत है इसलिए लोकतंत्र का मतलब हुआ गरीबों का राज। पर ऐसा होता क्यों नहीं है?

विश्व का धन चंद लोगों के हाथों में
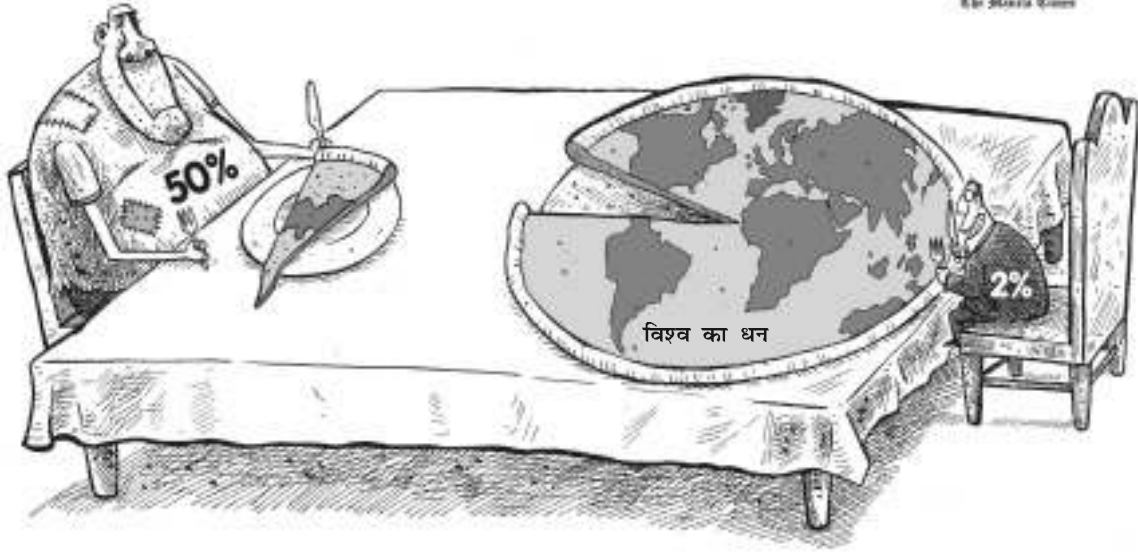
मैन्नी फ्रांसिस्को – द फिलीपींस, केगल कार्टून्स

सामाजिक विविधताओं में सामंजस्य

क्या लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाएँ शांति और सद्‌भाव का जीवन जीने में नागरिकों के लिए मददगार साबित होती हैं? लोकतांत्रिक व्यवस्था से यह उम्मीद करना उचित है कि वह सद्‌भावपूर्ण सामाजिक जीवन उपलब्ध कराएगी। हमने इससे पहले के अध्यायों में पाया कि लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ अनेक तरह के सामाजिक विभाजनों को सँभालती हैं। हमने पहले अध्याय में देखा कि किस तरह बेल्जियम ने अपने यहाँ के विभिन्न जातीय समूहों की आकांक्षाओं के बीच सफलतापूर्वक सामंजस्य स्थापित किया। लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ आम तौर पर अपने अंदर की प्रतिद्वंद्विताओं को सँभालने की प्रक्रिया विकसित कर लेती हैं। इससे इन टकरावों के विस्फोटक या हिंसक रूप लेने का अंदेशा कम हो जाता है।

आपके कहने का मतलब सिर्फ़ इतना है कि लोकतंत्र में इस बात का पक्का इंतज़ाम होता है कि लोग एक-दूसरे का सिर न फोड़ें। यह तो सद्‌भाव की स्थिति नहीं हुई। क्या हम इतने भर से संतोष कर लें?

कोई भी समाज अपने विभिन्न समूहों के बीच के टकरावों को पूरी तरह और स्थायी रूप से नहीं खत्म कर सकता, पर हम इन अंतरों और विभेदों का आदर करना सीख सकते हैं और इनके बीच बातचीत से सामंजस्य बैठाने का तरीका विकसित कर सकते हैं। इस काम के लिए लोकतंत्र सबसे अच्छा है। गैर-लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ आमतौर पर अपने अंदरूनी सामाजिक मतभेदों से आँखें फेर लेती हैं या उन्हें दबाने की कोशिश करती हैं। इस प्रकार सामाजिक अंतर, विभाजन और टकरावों को सँभालना निश्चित रूप से लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं का एक बड़ा गुण है, पर श्रीलंका का उदाहरण हमें इस बात की भी याद दिलाता है कि इस परिणाम को हासिल करने के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को स्वयं भी दो शर्तों को पूरा करना होता है :

- यह गौर करना ज़रूरी है कि लोकतंत्र का सीधे-सीधे अर्थ बहुमत की राय से शासन करना नहीं है। बहुमत को सदा ही अल्पमत का ध्यान रखना होता है। उसके साथ काम करने की ज़रूरत होती है। तभी, सरकार जन-सामान्य की इच्छा का प्रतिनिधित्व कर पाती है। बहुमत और अल्पमत की राय कोई स्थायी चीज़ नहीं होती।
- यह भी समझना ज़रूरी है कि बहुमत के शासन का अर्थ धर्म, नस्ल अथवा भाषायी आधार के बहुसंख्यक समूह का शासन नहीं होता। बहुमत के शासन का मतलब होता है कि हर फ़ैसले या चुनाव में

अलग-अलग लोग और समूह बहुमत का निर्माण कर सकते हैं या बहुमत में हो सकते हैं। लोकतंत्र तभी तक लोकतंत्र रहता है जब तक, प्रत्येक नागरिक को किसी न किसी अवसर पर बहुमत का हिस्सा बनने का मौका मिलता है। अगर किसी को जन्म के आधार पर बहुसंख्यक समुदाय का हिस्सा बनने से रोका जाता है तब लोकतांत्रिक शासन उस व्यक्ति या समूह के लिए समावेशी नहीं रह जाता।

संघर्ष

हेल-मेल

एरेम-वेस्ट लैटिन अमरीका, केगल कार्टूंस।

सामाजिक विभाजन पर लोकतांत्रिक राजनीति के दो तरह के प्रभावों को इन दो तस्वीरों के माध्यम से दिखाया गया है। प्रत्येक तस्वीर का उदाहरण देते हुए लोकतांत्रिक राजनीति में दोनों स्थितियों के नतीजों के बारे में एक-एक अनुच्छेद लिखें।

नागरिकों की गरिमा और आज़ादी

व्यक्ति की गरिमा और आज़ादी के मामले में लोकतांत्रिक व्यवस्था किसी भी अन्य शासन प्रणाली से काफ़ी आगे है। प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ के लोगों से सम्मान पाना चाहता है। अक्सर, टकराव तभी पैदा होते हैं जब कुछ लोगों को लगता है कि उनके साथ सम्मान का व्यवहार नहीं किया गया। गरिमा और आज़ादी की चाह ही लोकतंत्र का आधार है। दुनिया भर की लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ इस चीज़ को मानती हैं—कम से कम सिद्धांत के तौर पर तो ज़रूर। अलग-अलग लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में इन बातों पर अलग-अलग स्तर का आचरण होता है। लोकतांत्रिक सरकारें सदा नागरिकों के अधिकारों का सम्मान नहीं करतीं। फिर, जो समाज लंबे समय तक गुलामी में रहे हैं उनके लिए यह एहसास करना आसान नहीं है कि सभी व्यक्ति बराबर हैं।

यहाँ स्त्रियों की गरिमा का ही उदाहरण लें। दुनिया के अधिकांश समाज पुरुष-प्रधान समाज रहे हैं। महिलाओं के लंबे संघर्ष के बाद अब जाकर यह माना जाने लगा है कि महिलाओं के साथ गरिमा और समानता का व्यवहार लोकतंत्र की ज़रूरी

मुझे सिर्फ़ अपनी बोर्ड – परीक्षा की चिंता है पर लोकतंत्र को इतनी सारी परीक्षाओं से गुज़रना होता है और परीक्षा लेने वाले भी करोड़ों होते हैं!

शर्त है और आज अगर कहीं यह हालत है तो उसका यह मतलब नहीं कि औरतों के साथ सदा से सम्मान का व्यवहार हुआ है। बहरहाल, एक बार जब सिद्धांत रूप में इस बात को स्वीकार कर लिया गया है तो अब औरतों के लिए वैधानिक और नैतिक रूप से अपने प्रति गलत मान्यताओं और व्यवहारों के खिलाफ़ संघर्ष करना आसान हो गया है। अलोकतांत्रिक व्यवस्था में यह बात संभव न थी क्योंकि वहाँ व्यक्तिगत आज़ादी और गरिमा न तो वैधानिक रूप से मान्य है, न नैतिक रूप से। यही बात जातिगत असमानता पर भी लागू होती है। भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था ने कमज़ोर और भेदभाव का शिकार हुई जातियों के लोगों के समान दर्जे और समान अवसर के दावे को बल दिया है। आज भी जातिगत भेदभाव और दमन के उदाहरण देखने को मिलते हैं पर इनके पक्ष में कानूनी या नैतिक बल नहीं होता। संभवत: इसी अहसास के चलते आम लोग अपने लोकतांत्रिक अधिकारों के प्रति ज़्यादा चौकस हुए हैं।

लोकतंत्र से लगाई गई उम्मीदों को किसी लोकतांत्रिक देश के मूल्यांकन का आधार भी बनाया जा सकता है। लोकतंत्र की एक खासियत है कि इसकी जाँच-परख और परीक्षा कभी खत्म नहीं होती। वह एक जाँच पर खरा उतरे तो अगली जाँच आ जाती है। लोगों को जब लोकतंत्र से थोड़ा लाभ मिल जाता है तो वे और लाभों की माँग करने लगते हैं। वे लोकतंत्र से और अच्छा काम चाहते हैं। यही कारण है कि जब हम उनसे लोकतंत्र के कामकाज के बारे में पूछते हैं तो वे हमेशा लोकतंत्र से जुड़ी अपनी अन्य अपेक्षाओं का पुलिंदा खोल देते हैं और शिकायतों का अंबार लगा देते हैं। शिकायतों का बने रहना भी लोकतंत्र की सफलता की गवाही देता है। इससे पता चलता है कि लोग सचेत हो गए हैं और वे सत्ता में बैठे लोगों के कामकाज का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने लगे हैं। लोकतंत्र के कामकाज से लोगों का असंतोष जताना लोकतंत्र की सफलता को तो बताता ही है साथ ही यह लोगों के प्रजा से नागरिक बनने की गवाही भी देता है। आज अधिकांश लोग मानते हैं कि सरकार की चाल-ढाल पर उनके वोट से असर पड़ता है और यह उनके अपने हितों को भी प्रभावित करता है।

रोज़ा-प्रेरणा का एक स्तंभ

सैंट बैंगले- केगल कार्टूंस

ऊपर दिए गए कार्टून या ग्राफ को देखें। दोनों में इस हिस्से में उठाए गए मुद्दों (नागरिक की गरिमा और आज़ादी) को दर्शाया गया है। कार्टून या ग्राफ से जुड़ने वाली पंक्तियों को रेखांकित करें। क्या आप बता सकते हैं कि रोज़ा पार्क्स कौन थीं और यहाँ किस घटना का ज़िक्र किया गया है?

जो लोग मानते हैं – 'हमारे वोट का असर पड़ता है'
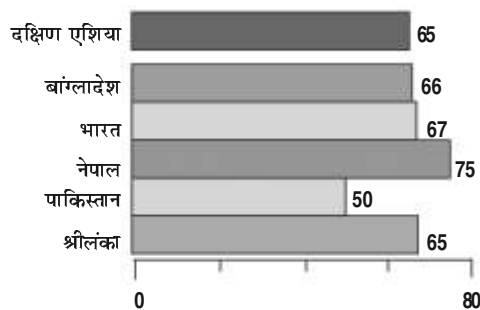
स्रोत : एसडीएसए टीम, स्टेट आफ़ डेमोक्रेसी इन साउथ एशिया, दिल्ली, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2007

1. लोकतंत्र किस तरह उत्तरदायी, ज़िम्मेवार और वैध सरकार का गठन करता है?

2. लोकतंत्र किन स्थितियों में सामाजिक विविधता को सँभालता है और उनके बीच सामंजस्य बैठाता है?

3. निम्नलिखित कथनों के पक्ष या विपक्ष में तर्क दें :
   - औद्योगिक देश ही लोकतांत्रिक व्यवस्था का भार उठा सकते हैं पर गरीब देशों को आर्थिक विकास करने के लिए तानाशाही चाहिए।
   - लोकतंत्र अपने नागरिकों के बीच की असमानता को कम नहीं कर सकता।
   - ग़रीब देशों की सरकार को अपने ज़्यादा संसाधन गरीबी को कम करने और आहार, कपड़ा, स्वास्थ्य तथा शिक्षा पर लगाने की जगह उद्योगों और बुनियादी आर्थिक ढाँचे पर खर्च करने चाहिए।
   - नागरिकों के बीच आर्थिक समानता अमीर और गरीब, दोनों तरह के लोकतांत्रिक देशों में है।
   - लोकतंत्र में सभी को एक ही वोट का अधिकार है। इसका मतलब है कि लोकतंत्र में किसी तरह का प्रभुत्व और टकराव नहीं होता।

4. नीचे दिए गए ब्यौरों में लोकतंत्र की चुनौतियों की पहचान करें। ये स्थितियाँ किस तरह नागरिकों के गरिमापूर्ण, सुरक्षित और शांतिपूर्ण जीवन के लिए चुनौती पेश करती हैं। लोकतंत्र को मज़बूत बनाने के लिए नीतिगत-संस्थागत उपाय भी सुझाएँ :
   - उच्च न्यायालय के निर्देश के बाद ओड़िसा में दलितों और गैर-दलितों के प्रवेश के लिए अलग-अलग दरवाज़ा रखने वाले एक मंदिर को एक ही दरवाज़े से सबको प्रवेश की अनुमति देनी पड़ी।
   - भारत के विभिन्न राज्यों में बड़ी संख्या में किसान आत्महत्या कर रहे हैं।
   - जम्मू-कश्मीर के गंडवारा में मुठभेड़ बताकर जम्मू-कश्मीर पुलिस द्वारा तीन नागरिकों की हत्या करने के आरोप को देखते हुए इस घटना के जाँच के आदेश दिए गए।

5. लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में इनमें से कौन-सा विचार सही है - लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं ने सफलतापूर्वक :
   - लोगों के बीच टकराव को समाप्त कर दिया है।
   - लोगों के बीच की आर्थिक असमानताएँ समाप्त कर दी हैं।
   - हाशिए के समूहों से कैसा व्यवहार हो, इस बारे में सारे मतभेद मिटा दिए हैं।
   - राजनीतिक गैर बराबरी के विचार को समाप्त कर दिया है।

6. लोकतंत्र के मूल्यांकन के लिहाज से इनमें कोई एक चीज़ लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के अनुरूप नहीं है। उसे चुनें :

   (क) स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव

   (ख) व्यक्ति की गरिमा

   (ग) बहुसंख्यकों का शासन

   (घ) कानून से समक्ष समानता

7. लोकतांत्रिक व्यवस्था के राजनीतिक और सामाजिक असमानताओं के बारे में किए गए अध्ययन बताते हैं कि–
   - लोकतंत्र और विकास साथ ही चलते हैं।
   - लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में असमानताएँ बनी रहती हैं।
   - तानाशाही में असमानताएँ नहीं होतीं।
   - तानाशाहियाँ लोकतंत्र से बेहतर साबित हुई हैं।

8. नीचे दिए गए अनुच्छेद को पढ़ें ;

नन्नू एक दिहाड़ी मज़दूर है। वह पूर्वी दिल्ली की एक झुग्गी बस्ती वेलकम मज़दूर कॉलोनी में रहता है। उसका राशन कार्ड गुम हो गया और जनवरी 2006 में उसने डुप्लीकेट राशन कार्ड बनाने के लिए अर्ज़ी दी। अगले तीन महीनों तक उसने राशन विभाग के दफ़्तर के कई चक्कर लगाए लेकिन वहाँ तैनात किरानी और अधिकारी उसका काम करने या उसके अर्ज़ी की स्थिति बताने की कौन कहे उसको देखने तक के लिए तैयार न थे। आखिरकार उसने सूचना के अधिकार का उपयोग करते हुए अपनी अर्ज़ी की दैनिक प्रगति का ब्यौरा देने का आवेदन किया। इसके साथ ही उसने इस अर्ज़ी पर काम करने वाले अधिकारियों के नाम और काम न करने की सूरत में उनके खिलाफ़ होने वाली कार्रवाई का ब्यौरा भी माँगा। सूचना के अधिकार वाला आवेदन देने के हफ़्ते भर के अंदर खाद्य विभाग का एक इंस्पेक्टर उसके घर आया और उसने नन्नू को बताया कि तुम्हारा राशन कार्ड तैयार है और तुम दफ़्तर आकर उसे ले जा सकते हो। अगले दिन जब नन्नू राशन कार्ड लेने गया तो उस इलाके के खाद्य और आपूर्ति विभाग के सबसे बड़े अधिकारी ने गर्मजोशी से उसका स्वागत किया। इस अधिकारी ने उसे चाय की पेशकश की और कहा कि अब आपका काम हो गया है इसलिए सूचना के अधिकार वाला अपना आवेदन आप वापस ले लें।

नन्नू का उदाहरण क्या बताता है? नन्नू के इस आवेदन का अधिकारियों पर क्या असर हुआ? अपने माँ-पिताजी से पूछिए कि अपनी समस्याओं के लिए सरकारी कर्मचारियों के पास जाने का उनका अनुभव कैसा रहा है।